विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर

वर्ष ३
अंक २

"मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग के आदेश क्रमांक स। विधा। ८। ५६४
दिनांक ४ मार्च १६६४ द्वारा स्वीकृत"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल-जून १६६५

प्रधान सम्पादक

स्वामी आत्मानन्द,

सह-सम्पादक

सन्तोषकुमार झा, रामेश्वरनन्द

विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (मध्य प्रदेश)
फोन नम्बर. १०४६

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र परिचय—

स्वामी विवेकानन्द (लन्दन में, १८९६ ई०)

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ३]　　अप्रैल - १९६५ - जून　　[अंक २

वार्षिक शुल्क ४)　　-*-　　एक प्रति का १)

आत्मा की निर्मलता

रागेच्छा सुख दुःखादि
　　बुद्धौ सत्यां प्रवर्तते ।
सुषुप्तौ नास्ति तन्नाशे
　　तस्माद् बुद्धेस्तु नात्मनः ॥

—आसक्ति, इच्छा, सुख, दुःख आदि का अनुभव तभी तक होता है जब तक मन की वृत्तियाँ जागती रहती हैं। सुषुप्ति में जब मन का लय हो जाता है तब सुख-दुःखादि का अनुभव नहीं होता। अतः वे (सुख-दुःखादि) मन के हैं, आत्मा के नहीं।

—आत्मबोध, २२।

दोनों हाथ उठाकर नाचो

किसी गाँव में एक कुँजड़िन रहती थी। दूर के गाँव में बाजार के दिन वह सब्जी-तरकारी बेचने गई थी। लौटते समय उसने विचार किया कि क्यों न अपनी सखी से मिलती चलूँ। अरसा हो गया उसे मिले। रास्ते में ही उसका गाँव पड़ेगा। यह सोचकर वह अपनी उस बुनकरिन मित्र के घर आ पहुँची। बुनकरिन सूत कात रही थी। उसके सामने रंग-बिरंगे रेशमी सूत के गड्डे पड़े थे। बुनकरिन अपनी कुँजड़िन मित्र को इतने दिनों बाद देखकर अत्यन्त हर्षित हुई और लपककर उसे गले से लगा लिया। कहने लगी, 'बहना, तुम्हें देखकर मुझे आज कितना आनन्द हो रहा है कैसे बताऊँ! जुग बीते तुम्हें देखे। अच्छा, बैठो, मैं जल्द ही आई। तुम्हारे लिए कुछ नाश्ता-पानी ले आऊँ।' बुनकरिन अन्दर चली गई। इधर रंग-बिरंगे रेशमी सूत की गड्डियों को देखकर कुँजड़िन को लोभ हो आया। उसने झट एक गड्डी उठाई और बगल में दबा लिया। बुनकरिन नाश्ता-पानी लेकर बाहर आई और अत्यन्त उत्साह पूर्वक कुँजड़िन को नाश्ता कराने लगी। इतने में उसकी नजर सूत की ओर गई। हाय राम! एक गड्डी तो गायब दिखती है! उसने समझ लिया कि उसकी सखी ने ही वह गड्डी गायब की है। अब क्या किया जाय? कैसे गड्डी का पता लगाया जाय? बुनकरिन ने एक उपाय सोचा।

उसने कुँजड़िन से कहा, 'बहना, बहुत दिन बाद तुमसे भेंट हुई है। आज तो बड़े आनन्द का दिन है। मेरी बहुत इच्छा हो रही है कि हम दोनों नाचें।' कुँजड़िन ने कहा, 'हाँ सखी! आज मुझे भी बड़ा आनन्द हो रहा है।' और दोनों नाचने लगीं। बुनकरिन ने देखा कि उसकी सखी नाच तो रही है पर उसने अपने हाथ नहीं उठाये हैं। इसलिए वह बोली, 'री सखी, आज तो भारी खुशी का दिन है। आओ, दोनों हाथ उठाकर नाचें।' पर तो भी कुँजड़िन ने दोनों हाथ न उठाये। केवल एक हाथ उठाकर और दूसरे हाथ से बगल दबाये वह नाचने लगी। बुनकरिन पुनः बोली, 'यह क्या, बहना! एक हाथ उठाकर भी कहीं नाचा जाता है? आओ, दोनों हाथ उठाकर नाचें। यह देखो, मैं कैसे दोनों हाथ उठाकर नाच रही हूँ।' पर कुँजड़िन एक हाथ से बगल दबाकर केवल एक हाथ उठाकर नाचती रही और बोली, 'भाई, जिसको जैसा आये।'

हम भी इसी प्रकार एक हाथ उठाकर ईश्वर का नाम-गान करते हैं और दूसरे हाथ से बगल में कामिनी-कांचन-यश की पोटली को चिपकाये रहते हैं। इससे न बनेगा। जब हम संसार का काम करते हैं तब एक हाथ से ईश्वर को पकड़े रहें और दूसरे हाथ से संसार का काम-काज करें, पर जब हमें कार्य से थोड़ा अवकाश मिले, उस समय तो दोनों हाथ उठाकर, ईश्वर को पकड़कर, उनके कीर्तन में मत्त हो जायँ। यही सांसारिकता को जीतने का रास्ता है।

—x—

प्रार्थना की पद्धति

श्रीमत् स्वामी पवित्रानन्द जी महाराज, न्यूयार्क।

'क्या ईश्वर को की हुई हमारी प्रार्थनाएँ सुनी जाती हैं ?' यह शंका हममें से प्रत्येक में कभी न कभी उठती ही है। एक समय किसी व्यक्ति ने श्रीरामकृष्ण से यही प्रश्न पूछा। श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, 'हाँ! हाँ! सौ बार हाँ!' जिन्होंने ईश्वर का साक्षात्कार किया है, वे सभी एक स्वर से यही निश्चयात्मक उत्तर देते हैं। वे कहते हैं कि हम जो कुछ माँगेंगे वह सरलता से पा सकते हैं। अतः हम देखें कि प्रार्थना के विभिन्न प्रकार और स्तर कौन कौन से हैं और वे कौन सी शर्तें हैं जिनको पूरा करने से हम भी अपने जीवन में सन्तों के समान यह अनुभव कर सकते हैं कि ईश्वर हमारी प्रार्थना सुनता है।

सर्वप्रथम विचार करें कि प्रार्थना क्या है और किस प्रकार उसका फल मिलता है। दर्शन की भाषा में हम कह सकते हैं कि चिन्तन की तीव्रता के द्वारा हम अपने व्यक्तित्व की गहराई में पहुँच जाते हैं और उस आत्मा को छू लेते हैं जो सर्वव्यापी ब्रह्म से एकरूप है। हमारा मन विश्व-मन के साथ तद्रूप हो जाता है। यह विश्व-मन ही जगत् की प्रत्येक वस्तु के पीछे शक्ति का स्रोत है और यही हमें हमारी प्रार्थना का फल प्रदान करता है।

भक्ति की भाषा में हम कहेंगे कि हम उस सत्य को

अपने से बाहर समझकर उसे ईश्वर का रूप देते हैं; हम उस ईश्वर से प्रार्थना करते हैं और वह हमारी प्रार्थना सुनता है। हमारी धारणा है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है और इसलिए किसी भी प्रार्थना का फल देने में समर्थ है। हम उससे एक आत्मीय का सम्बन्ध जोड़ लेते हैं; जैसे माता या पिता का। मानवी स्तर पर भी हम देखते हैं कि प्रत्येक माता-पिता अपने बच्चों को प्यार करते हैं और उनकी जरूरतों को पूरा करते हैं। इसी प्रकार, हम ईश्वर से जो भी माँगें, हमें अवश्य मिलेगा। वह हमें कुछ भी देने में आनाकानी न करेगा।

प्रार्थना के विभिन्न प्रकार कौन से हैं? हम मुख्य रूप से तीन विभाग कर सकते हैं। पहला है याचनात्मक प्रार्थना; इसमें हम ईश्वर से 'यह दो' 'वह दो' की माँग करते हैं। दूसरा है प्रशंसात्मक प्रार्थना। हम ईश्वर की प्रशंसा करते हैं कि उसने सूरज, चाँद और सितारे बनाये, मनोहर वसन्त की रचना की (यद्यपि हम इस तथ्य को मन में नहीं लाना चाहते कि ग्रीष्म का भीषण उत्ताप और शीत की भयानक ठिठुरता भी उसी की देन है)। प्रार्थना की तीसरी और सर्वोत्तम कोटि वह है जिसमें हम ईश्वर की विद्यमानता को अनुभव करने का अभ्यास करते हैं।

वहुत से लोग मौखिक प्रार्थना करते हैं। कभी कभी तो वे जोरों से प्रार्थना करते हैं जैसे कि ईश्वर ऐसा करने से उनकी प्रार्थना जल्दी सुन लेगा। एक समय जब मैं कलकत्ते के एक आश्रम में था, पड़ोस में एक व्यक्ति रहता

था। वह रात में जगन्माता से बड़ी जोर से प्रार्थना किया करता। पड़ोस के सभी लोग उससे परेशान थे। महत्त्व इस बात का नहीं है कि हम कितनी जोर से प्रार्थना करते हैं। हृदय में हम कैसी प्रार्थना करते हैं यही महत्त्व का है। साधारणतया हम मौखिक प्रार्थना से शुरू करते हैं और बाद में हमें अनुभव होता है कि शब्दों की आवश्यकता नहीं रही। अठारहवीं शताब्दी के एक सन्त के अनुसार सबसे उत्तम प्रार्थना —

"...अन्तर्मुखी मौन है, जब जीवात्मा बाहर की समस्त वस्तुओं से अलग हट कर, पवित्र शान्ति में प्रवेश करता है और विनम्रता एवं श्रद्धा के साथ धैर्यपूर्वक उस क्षण की प्रतीक्षा करता है जब उसे ईश्वर की विद्यमानता का अनुभव हो सकेगा, जब आत्मा का अनमोल स्पर्श उसे मिल सकेगा। और जब तुम इसके लिए एकान्त में जाओगे, जैसा कि तुम्हें बहुधा करना चाहिए, उस समय तुम्हें ऐसी कल्पना करनी चाहिए कि तुम उस दैवी अस्तित्व से घिरे हो, एकमात्र उन्हीं के आसरे बैठे हो, वे जो कुछ दे दें बस उसी में तुम्हें सन्तोष है। साथ ही तुम्हें अपने मन को शान्ति और मौन में प्रतिष्ठित करने की कोशिश करते रहनी चाहिए, अपने मन के सारे तर्क-कुतर्कों को त्याग देना चाहिए और जान-बूझकर किसी भी विषय पर सोच-विचार नहीं करना चाहिए चाहे वह कितना ही अच्छा और लाभदायक क्यों न प्रतीत हो। यदि अवांछित विचार मन में आ ही जायें तो धीरे से उनसे पीछा छुड़ा

लो और इस प्रकार श्रद्धा और धैर्य के साथ उस ईश्वरीय अस्तित्व की अनुभूति की प्रतीक्षा करो।"

हम देखते हैं कि सभी धर्म प्रार्थना पर बल देते हैं, भले ही वे प्रार्थना की अलग अलग पद्धति पर जोर देते हों। उदाहरणार्थ, वैदिक साहित्य में विभिन्न देवताओं के निमित्त भिन्न भिन्न प्रार्थनाएँ हैं। ये देवतागण उस एक ही परमेश्वर के—उस देवाधिदेव के अलग अलग पहलू हैं। वेदों के दार्शनिक विभाग—उपनिषदों—में ध्यान पर अधिक बल दिया गया है। ध्यान का परिभाषिक अर्थ है—मन का तैलधारावत् उस परमसत्य की ओर, बहना। यह आध्यात्मिक विकास की अवस्था है और आध्यात्मिक जीवन का सार है। उपनिषदों ने इसे सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है—

"मन के सहारे हम उस प्रभु को जान लेते हैं जो हमारी स्थूल और सूक्ष्म देहों का नियन्ता है और जो हृदय में विराजमान है। जब साधक अपने मन की चंचलता को शान्त कर उसे देखना है, तो वह साधक के समक्ष अद्वितीय सर्वव्यापी, आनन्द और अमृतस्वरूप सत्य के रूप से प्रकट होना है।"

यहाँ पर इस उद्धरण में प्रार्थना का उल्लेख नहीं है। उपनिषद् हमें बताता है कि जब हम ईश्वर को जान लेते हैं, जो हमारे भीतर है, तब हमें अनुभव होता है कि वह समस्त विश्व में आनन्द के रूप से ओत-प्रोत है। इस 'जान लेने' से मतलब ज्ञान के साधारण, प्रचलित अर्थ से

नहीं है, क्योंकि हम बुद्धि के सहारे जो कुछ जानते हैं वह अज्ञान के ही क्षेत्र में आता है। उस परमसत्य का ज्ञान मानवी मन और बुद्धि की सीमा से परे है। तब फिर उस वाक्य का क्या अर्थ है जो कहता है 'मन के सहारे हम उस प्रभु को जान लेते हैं ...?' यहाँ 'मन' से उपनिषद् का तात्पर्य है शुद्ध मन, वह जो आध्यात्मिक साधनाओं के अभ्यास में लगा हो। जब हम उस एकमेवाद्वितीय तत्त्व को जान लेते हैं जो विश्व में व्याप्त है और हमारी आत्मा में स्थित है, तब हम तत्क्षण यह अनुभव करने लगते हैं कि हम अमृतस्वरूप हैं—जीवन और मृत्यु से परे हैं। यद्यपि उपनिषदों में यत्र-तत्र प्रार्थना सम्बन्धी अंश हमें प्राप्त होते हैं तथापि उनमें इस आत्मज्ञान पर ही विशेष बल दिया गया है।

बुद्ध ने भी याचनात्मक प्रार्थना की अपेक्षा ध्यान पर ही अधिक जोर दिया। पर क्या प्रार्थना और ध्यान में मौलिक रूप से कोई अन्तर है? हम कह सकते हैं कि ध्यान उस अन्तःस्थित सत्य पर मन को एकाग्र करना है, जो, उपनिषद् के अनुसार, हृदयदेश में अवस्थित है। और उच्चतम कोटि की प्रार्थना में हम उस सर्वान्तर्यामी, सर्वातीत सत्य को मन का विषय बनाकर उससे विनय करते हैं कि हम उसे जान लें और उसकी इच्छा का पूरण करें। आध्यात्मिक उन्नति की उस अवस्था में हम भौतिक या सांसारिक लाभ के लिए प्रार्थना नहीं करते। तब तो बस यही जान लेना पर्याप्त है कि वह है। अतः प्रार्थना

और ध्यान उसी एक सत्य की प्राप्ति के अलग अलग रास्ते हैं। उच्चतम भूमिका में वे दोनों एक हो जाते हैं।

अब एक प्रश्न उठता है। भला हममें ऐसे कितने हैं जो बुद्ध और उपनिषदों द्वारा बताये गये आदर्श के अनुसार ध्यान करने में समर्थ हैं? अधिकांश लोगों को अपने में ध्यान की योग्यता लाने के लिए एक लम्बे प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। पर जो सत्यद्रष्टा बन चुके हैं उनका मन स्वाभाविक रूप से उस उच्चतम तत्त्व के साथ एकरूप हो जाता है। उदाहरणार्थ, जब श्रीरामकृष्ण ध्यान करते थे, तब उनका मन इन्द्रियातीत राज्य में चला जाता था और वहाँ वे एकमेवाद्वितीय सत्य के साथ तद्रूप हो जाते थे। उस समय यह अनुभव किया जा सकता था कि वे बाह्य-संज्ञाशून्य हो गये हैं। पर जब वे सहज भाव को प्राप्त होते तब जगदम्बा से प्रार्थना किया करते। श्रीरामकृष्ण के समान पूर्णतः नियंत्रित मन द्वैत और अद्वैत दोनों भूमिकाओं पर सहज रूप से विचरण कर सकता है। सामान्यतया, ध्यान के जमने से पूर्व व्यक्ति को कई विभिन्न अवस्थाओं में से जाना पड़ता है।

उस उच्चतम ज्ञान की अनुभूति के लिए चार सीढ़ियाँ हैं। पहली सीढ़ी में धार्मिक क्रिया-अनुष्ठान करने होते हैं। यह धर्म का बाहरी रूप है। दूसरी सीढ़ी है भगवान् की भक्ति के लिए प्रार्थना और कीर्तन करना। तीसरी सीढ़ी है ध्यान — किसी एक विशेष विचार पर एकाग्रता का अभ्यास। और चौथी सीढ़ी है – ईश्वर के अस्तित्व की

सतत अनुभूति, जैसा कि उपनिषद् से लिये गये ऊपर के उद्धरण में बताया गया है। उस अवस्था में हमें ध्यान करने की आवश्यकता नहीं रह जाती; असल में कहें, ध्यान करना ही तब असम्भव हो जाता है, क्योंकि जिस लक्ष्य को पाने के लिए हम कोशिश करते होते हैं वही हमें प्राप्त हो चुका होता है।

पर इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कुछ शर्तों का पूरा होना जरूरी है। और यह बात तो जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू होती है — जैसे, उदाहरण के लिए, वैज्ञानिक प्रयोग ही ले लें। यदि उपाय और परिपार्श्विक अवस्थाएँ अनुकूल हों, तो बड़ा अन्तर पड़ जाता है। उसी प्रकार, जब सन्त-महापुरुष अपने अनुभवों से हमें बताते हैं कि प्रार्थना का फल शीघ्र मिलता है तो वे यह मान लेते हैं कि कुछ आवश्यक शर्तें पूरी हो चुकी हैं।

सर्वप्रथम, प्रार्थना की यथार्थ आवश्यकता महसूस होनी चाहिए। सामान्य व्यक्ति प्रार्थना क्यों नहीं करता, उसे प्रार्थना में विश्वास क्यों नहीं होता? इसलिए कि वह अहं-केन्द्रित होता है। जब तक हम सोचते हैं कि हम स्वयं सब कुछ कर ले सकते हैं, तब तक हमें प्रार्थना की आवश्यकता नहीं होती। और यदि हम यह आवश्यकता महसूस न करें, तो हमें प्रार्थना का उत्तर मिलेगा ऐसी आशा हम नहीं कर सकते। प्रार्थना की प्रेरणा हृदय की गहराई से आनी चाहिए।

मनोविज्ञान की भाषा में कहें, जो दो प्रमुख समस्याएँ

मनुष्य को पीड़ित करती हैं वे हैं — अरक्षा का भाव और अपराध की भावना। यदि हम यथार्थतः यह अनुभव करते हैं कि जीवन में सब कुछ अनिश्चित है, तो हम ऐसा कुछ खोजना चाहते हैं जो हमें सुरक्षा प्रदान कर सके। यही न्याय अपराध की भावना पर भी लागू होता है। जब हम अपने को उचित मार्ग पर जाने में असमर्थ पाते हैं और अपने आपको पीड़ित और असहाय अनुभव करते हैं, उस समय हम ऐसा कुछ खोजते हैं जो हमें बल दे सके। ऐसी अवस्था में प्रार्थना की यथार्थ आवश्यकता महसूस होती है।

और जब यह आवश्यकता हृदय में उठती है, तब हममें निष्ठा आती है। जब हम जान लेते हैं कि ऐसी कोई शक्ति है जिसको हम पा सकते हैं, तो हमारी चेष्टाओं में दृढ़ता आ जाती है। बहुतों के लिए ईश्वर एक शब्द मात्र है पर एक सच्चा भक्त जब तक ईश्वर को नहीं देख लेता तब तक उसे बिछोह की वास्तविक पीड़ा होती है। जब हममें यह चाह आती है, तभी हम आध्यात्मिक पथ में उन्नति करते हैं। और जिस क्षण इस चाह की टीस से जीवन दूभर हो उठता है उसी क्षण हमें उस उच्चतम की अनुभूति होती है। यह बात भौतिक कार्यों के सम्बन्ध में भी लागू होती है। जब हम किसी चीज की वास्तविक चाह करते हैं तब वह हमें मिलती ही है। जब मन किसी एक बात के लिए आग्रहवान् हो जाता है, जब वह उसके लिए पर्याप्त शक्ति खर्च कर चुकता है, तो अनुकूल फल अवश्यम्भावी हैं।

उस समय हमें कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। प्रयत्न की आवश्यकता तो सबसे पहले होती है जब हम प्रार्थना के प्रयोजन को तीव्र रूप से अनुभव करना चाहते हैं। एक बार वह हुआ कि परिणाम स्वाभाविक रूप से हस्तगत होता है।

दूसरी शर्त है—प्रार्थना में नियमितता। हमें प्रतिदिन और ठीक नियत समय पर प्रार्थना करनी चाहिए। एक प्रश्न पूछा जा सकता है—'ईश्वर तो सर्वत्र है और कालातीत है। तब भला हम जब इच्छा करें तब और जहाँ हैं वहीं क्यों न प्रार्थना करें ?' उत्तर यह है कि यदि हम आज सुबह नाश्ते के बाद प्रार्थना करें, कल सोने के पहले और परसों आफिस में विश्राम के समय, तो इससे प्रार्थना में गहराई नहीं आ पाती। उस प्रकार करने से हम उन्नति नहीं कर सकते। मन को नियंत्रण में लाना पड़ता है और इसके लिए प्रार्थना का अभ्यास डालना अत्यावश्यक है। कुछ लोग कहते हैं कि उनसे प्रार्थना नहीं जमती। पर उनके लिए एकमात्र उपाय यह है कि वे, जमे या न जमे, प्रार्थना का प्रयत्न न छोड़ें; अन्य कोई दूसरा उपाय है ही नहीं।

साथ ही हमें चेष्टापूर्वक सारा दिन प्रार्थना के भाव को जगाये रहना चाहिए। यदि हम सुबह आधा घंटा प्रार्थना कर लें और बाकी सारा दिन ऐसे कार्य करें जिनसे प्रार्थना के विपरीत भावों को प्रश्रय मिले, तो इससे न बनेगा। हमें अपने आध्यात्मिक जीवन के आदर्श को हर क्षण

अपने व्यवहार में उतारने का प्रयास करना चाहिए अन्यथा प्रार्थना एक महज दिखावा रह जाती है।

फिर. हमें प्रार्थना में विश्वास भी हो। यह सत्य है कि विश्वास एकदम से नहीं उपजता। किन्तु यदि हम नियमित रूप से प्रार्थना करें, भले ही हममें पहले उतना विश्वास न हो, धीरे धीरे विश्वास उपजने लगेगा। यह आध्यात्मिक उन्मेष है। वे लोग भाग्यवान हैं जो ऐसे लोगों के सम्पर्क में आते हैं जिनमें विश्वास सहज और जन्मजात है। यदि हम ऐसे साधु पुरुष के सामने चले जायें जिन्होंने शास्त्रों द्वारा वर्णित सत्य की अपने जीवन में अनुभूति कर ली है, तो संशय नष्ट हो जाते हैं। यदि ऐसा सत्संग न मिले, तो भी हमें अपनी आध्यात्मिक उन्नति के प्रयास को बन्द नहीं करना चाहिए। क्रमशः विश्वास उपजेगा ही।

अभ्यास से विश्वास बढ़ता है और विश्वास की वृद्धि से आध्यात्मिक साधना की हमारी लगन भी बढ़ती है। जैसे जैसे हमें अभ्यास का फल मिलता है, हममें अधिकाधिक फल पाने की चाह होती है। भोर में पूर्व दिशा की ओर लाली देखकर हम अनुमान लगा लेते हैं कि सूर्य अब उगने ही वाला है। इसी प्रकार, जब हमें आध्यात्मिक उन्नति की एक झलक सी दिखती है, तो उससे हमें यह विश्वास हो जाता है कि वास्तव में चरम सत्य का अस्तित्व है; और हम उसकी अनुभूति के लिए दुगुने उत्साह से प्रयत्न करने लगते हैं। यदि हम अध्यवसाय के साथ अपनी साधना में लगे रहे तो उस अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति कर

सकते हैं। तब, हमारी सारी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं।

हमने अभी प्रार्थना की पद्धति पर विचार किया, उन प्रक्रियाओं की चर्चा की जिनके सहारे हम ईश्वर-साक्षात्कार की ओर बढ़ सकते हैं। पर हम सर्वदा पद्धतियों और प्रक्रियाओं के जरिये ही उन्नति नहीं करते। जब समुद्र में ज्वार आता है तो चारों ओर की भूमि जलमग्न हो जाती है। उस समय वहाँ कुआँ खोदने की आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार, जब हृदय में आध्यात्मिक व्याकुलता और भक्ति का ज्वार उठता है, तब पद्धतियाँ और प्रक्रियाएँ अनावश्यक हो जाती हैं। हमारा सारा मन और प्राण ईश्वरानुभूति की ओर द्रुत वेग से दौड़ने लगता है और अन्त में हमें वह अनुभूति मिलती ही है।

— 'वेदान्त एंड दि वेस्ट' से साभार।

×

जिन जिन व्यक्तियों से मैं मिलता हूँ वे किसी न किसी रूप में मुझसे श्रेष्ठ होते हैं, और इस तरह मैं उनसे कुछ सीख पाता हूँ।

— इमर्सन

भैरवी ब्राह्मणी और श्रीरामकृष्णदेव

प्राध्यापक नरेन्द्र देव वर्मा

आधुनिक युग में भगवान् श्रीरामकृष्ण देव युगावतार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनकी इस लोकोत्तर प्रतिष्ठा के अनेक कारण हैं। विश्व धर्म के इतिहास में उनका अवतरण तथा उनकी साधना एक युगान्तर की सूचना देती है। गीता में श्रीभगवान् ने धर्म की प्रतिष्ठा के लिए बार बार देह-धारण की प्रतिज्ञा की है। भारत की आध्यात्मिक साधना की परम्परा में श्रीभगवान् के अवतरण की अनेक कथाएँ हैं। प्रत्येक अवतार ने अपने जीवन और कार्य के द्वारा भारतीय धर्मसाधना को पुनः समन्वित और प्रतिष्ठित किया है। श्रीरामकृष्णदेव के अवतरण का एक विशिष्ट प्रयोजन था। यदि हम उनके आगमन के पूर्व की स्थिति को देखें तो हमें ज्ञात होगा कि उस काल में विश्व में धर्म के क्षेत्र में गत्यावरोध उत्पन्न हो गया था। हिन्दू-धर्म की स्थिति भी कुछ अधिक संतोषप्रद नहीं थी। तत्कालीन हिन्दू-धर्म अनेकानेक संप्रदायों में विभक्त हो गया था। प्रत्येक सम्प्रदाय स्वयं को सर्वश्रेष्ठ मानता हुआ अन्य सम्प्रदायों को तिरस्कार की दृष्टि से देखता था। जीवन के अन्य क्षेत्रों के समान धर्म के क्षेत्र में भी विशृंखलता पनप रही थी। विविध धर्मों और मतवादों के पारस्परिक मतभेद को दूर करने तथा उन्हें एक सूत्र में पिरोने के लिए ही

श्रीरामकृष्णदेव का अवतरण हुआ था। धर्मांधता एवं मतवैभिन्य के युग में समन्वयात्मक युगधर्म की प्रतिष्ठा करना एक महान कार्य था। श्रीरामकृष्णदेव ने विविध धर्मों की साधना के माध्यम से इसी महाकार्य को सम्पन्न किया था।

श्रीरामकृष्णदेव की आध्यात्मिक साधनाओं की दो मौलिक उपलब्धियाँ थीं। एक ओर तो उन्होंने संसार के सभी प्रमुख धर्मों की साधना करके उनकी मूलवर्ती एकता का प्रतिपादन किया था तथा दूसरी ओर उन्होंने हिन्दू धर्म की विविध शाखाओं द्वारा गृहीत मान्यताओं के अनुरूप तपश्चर्या कर हिन्दू धर्म को एक समष्टिमूलक धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया था।

दक्षिणेश्वर में भैरवी ब्राह्मणी का आगमन युगावतार श्री रामकृष्णदेव के इसी महाकार्य के प्रारम्भ की सूचना देना है। भैरवी ब्राह्मणी उच्च-कोटि की साधिका थीं। वैष्णव-तंत्र की साधना में वे पूर्णतः निष्णात होकर ईश्वरीय आदेश के अनुरूप तीर्थों एवं पुण्य स्थलों का पर्यटन करते हुए अधिकारी शिष्यों की खोज कर रही थीं। देव-कृपा से उन्हें यह विदित हो गया था कि उन्हें अपने जीवन में तीन व्यक्तियों को तांत्रिक साधना के मार्ग में अग्रसर कराना है। जब उनका दक्षिणेश्वर में आगमन हुआ था तब तक वे दो व्यक्तियों को तंत्रोक्त साधना में दीक्षित कर चुकी थीं।

भैरवी ब्राह्मणीका नाम योगेश्वरी था। वे अपूर्व सुन्दरी थीं। दक्षिणेश्वर में उन्होंने जब पदार्पण किया, तब वे प्रौढ़

हो चली थीं, किंतु उनके मुख पर साधनाजन्य अलौकिक अनुराग सदैव विद्यमान रहता था तथा उन्हें देखने से ऐसा प्रतीत होता था कि साक्षात् जगन्माता ही संन्यासिनी का वेश धारण कर त्रिशूल-माला इत्यादि तापसी चिह्नों से युक्त होकर धरा-धाम पर लोगों के कल्याणार्थ अवतीर्ण हुई हैं। श्रीरामकृष्णदेव ने योगेश्वरी देवी को पहली बार उस समय देखा, जब वे कालीमंदिर के पश्चिम में स्थित वाटिका से जगन्माता के विग्रह को सजाने के लिए फूल चुन रहे थे। तब तक श्रीरामकृष्णदेव को जगन्माता के दर्शन हो चुके थे; वे जगदम्बा के अलौकिक आलोक को समस्त चराचर में देखते हुए पूरीय तरह से ईश्वरीय अनुराग में लीन हो चुके थे। वह अतीन्द्रिय लोक में प्रतिष्ठित होने की महान् अवस्था थी। ऐसी दशा में माता के विग्रह की विधिवत् पूजा करना भला कैसे सम्भव था? इसलिए श्रीरामकृष्णदेव प्रतिदिन जगदम्बा के गुण-ऐश्वर्य का चिंतन करते हुए पुष्प चयन करते थे तथा पुष्पों की माला बनाकर जगन्माता को सजाया करते थे। उस दिन भी वे फूल चुनते हुए टहल रहे थे। उन्होंने देखा कि एक काषाय-वेश धारिणी संन्यासिनी गंगा के बकुलतलाघाट पर नाव से उतरकर कालीमंदिर की ओर आ रही हैं।

श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे कि उस समय भैरवी ब्राह्मणी को देखकर उन्हें उसीप्रकार की अनुभूति हुई जैसे परम आत्मीय व्यक्ति को देखकर हुआ करती है। उन्हें देखते ही उन्होंने अपने भानजे हृदय से उन्हें बुला लाने के

लिए कहा। भैरवी ब्राह्मणी का दक्षिणेश्वर में आना ईश्वर के द्वारा बहुत पहले निर्धारित हो चुका था। इसीलिए योगेश्वरी देवी जब श्रीरामकृष्णदेव से मिलीं तो वे अपने आह्लाद और विस्मय को एकबारगी न रोक सकीं। श्रीराम-कृष्ण के दर्शन से उनके नेत्र आनंदाश्रुओं से डबडबा गए। भावविह्वलता से उनका कण्ठ भर आया और वे भावो-च्छ्वसित स्वर में कहने लगीं—"बाबा, तुम यहाँ हो? यह जानकर कि तुम गंगा के तट पर रहते हो मैं बहुत दिनों से तुम्हें खोज रही हूँ।" यह कहने की आवश्यकता नहीं कि देवकृपासे भैरवी ब्राह्मणी यह जान गई थीं कि उनका तीसरा शिष्य गंगा के तटवर्ती प्रदेश में निवास कर रहा है और उनकी प्रतीक्षा कर रहा है।

श्रीरामकृष्णदेव ईश्वरीय प्रेम की उस महान् भूमिका पर प्रतिष्ठित थे जिसे 'महाभाव' कहा जाता है। महाभाव के उद्दीपन से श्रीरामकृष्णदेव को असल गात्रदाह होने लगता था तथा इस भीषण दैहिक यातना से छुटकारा पाने के लिए वे अपने शरीर को सदैव गीले कपड़े से लपेटे रहते थे। ईश्वरीय विरह के सागर में वे पूरी तरह से डूब गए थे। जगन्माता का दर्शन कर लेने के बाद एक भी क्षण उनसे अलग होकर रहना उनके लिए असहनीय था। ऐसे क्षणों में उनकी देह जलने लगती थी और ऐसी भीषण पीड़ा होती थी मानों उनका प्रत्येक रोम-कूप प्रज्वलित हो रहा हो कभी-कभी तो वे फर्श पर पछाड़ खा-खाकर गिर पड़ते। और पानी से निकाली गई मछली की तरह तड़पने

लगते। तब उनके इस महाभाव को वहाँ कौन समझ सकता था ? श्रीरामकृष्ण की ऐसी अवस्था देखकर लोग उन्हें पागल कहा करते थे और जब वे उन्हें फर्श पर छटपटाते देखते तो परिहास करते हुए कहा करते कि आज 'छोटे भट्टाचार्य' पर अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक पागलपन सवार हुआ है। लोगों की इन बातों को सुनकर श्रीराम-कृष्णदेव को अपनी आध्यात्मिक स्थिति की ऊँचाई के सम्बन्ध में सही धारणा नहीं हो सकी थी और कभी-कभी तो उन्हें यह संदेह भी होने लगता था कि कहीं वे सचमुच में पागल तो नहीं हो गए हैं। इसीलिए श्रीरामकृष्णदेव योगेश्वरी देवी के समक्ष अपनी इन्हीं अनुभूतियों को उत्क-ण्ठापूर्वक बताने लगे थे। मातृभावसम्पन्ना योगेश्वरी श्रीरामकृष्णदेव के इस असाधारण भावोत्कर्ष को देखकर आनन्द और विस्मय के सागर में डूबने-उतराने लगीं। जब अपनी अनुभूतियों का वर्णन कर श्रीरामकृष्णदेव ने भैरवी ब्राह्मणी से पूछा, "माँ, सच बताओ, मुझे जो ऐसी अनुभूति होती है वह मन का विक्षेप तो नहीं है, केवल पागलपन तो नहीं है ?" तब योगेश्वरी देवी ने उन्हें माता के समान स्नेहपूर्ण स्वर में सांत्वना बँधाते हुए कहा, "नहीं बाबा, यह पागलपन नहीं है। यह तो महाभाव है। ईश्वर-कोटि पुरुष ही इसकी अनुभूति कर सकते हैं। श्रीकृष्ण के वियोग में श्रीमती राधिका की और श्री चैतन्य महाप्रभु की ऐसी ही दशा हुई थी। मैं अनेकानेक ग्रन्थों से इस बात को प्रमाणित कर सकती हूं।"

योगेश्वरी देवी ने श्रीरामकृष्णदेव को केवल सांत्वना बँधाने के लिए ही ऐसा नहीं कहा था। वे स्वयं अनुभव कर रही थीं कि श्रीरामकृष्णदेव एक सामान्य साधक नहीं हैं। उनकी-जैसी आध्यात्मिक उच्चता ईश्वरकोटि के महामानवों को ही उपलब्ध हो सकती है। श्रीमती राधिका और श्री चैतन्य महाप्रभु की आध्यात्मिक स्थिति के सम्बन्ध में वैष्णव ग्रन्थों में जो कुछ कहा गया है वह श्रीरामकृष्णदेव की मनःस्थितियों से पूरी समानता रखता है। इसीलिए योगेश्वरी देवी श्रीरामकृष्णदेव को अवतारपुरुष मानती थीं। यह उनकी केवल व्यक्तिगत धारणा नहीं थी अपितु उन्होंने इसे वैष्णव ग्रन्थों के बल पर प्रमाणित भी किया था। उन्हींके अनुरोध पर श्री मथुरानाथ विश्वास ने दक्षि-णेश्वर में प्रसिद्ध विद्वान् आचार्यों की एक सभा का आयोजन किया था। इस सभा में योगेश्वरी देवी ने श्रीरामकृष्णदेव की आध्यात्मिक अनुभूतियों एवं मानसिक स्थितियों को श्रीमती राधा और श्री चैतन्य महाप्रभु की अनुभूतियों के समकक्ष रखते हुए उनके अवतारत्व का प्रति-पादन किया था। उनके तर्कों से प्रभावित होकर समस्त पण्डितसमुदाय ने श्रीरामकृष्णदेव को एकमत से अवतार घोषित किया था।

भैरवी ब्राह्मणी का हृदय मातृ-भाव से लबालब भरा हुआ था। वे श्रीरामकृष्णदेव से भीं संतानवत् स्नेह किया करती थीं। उनके पास श्री रघुवीर की एक शिलामूर्ति थी जिसकी वे प्रतिदिन पूजा किया करतीं और उन्हें नैवेद्य

अर्पित करने के उपरान्त ही भोजन ग्रहण करती थीं। एक दिन उन्होंने पंचवटी में रसोई बनाई और श्रीरघुवीर की शिला को नैवेद्य लगाने के लिए ध्यानमग्न होकर बैठीं। आँखें खोलने पर उन्होंने देखा कि भावाविष्ट होकर श्रीरामकृष्णदेव ही उसे ग्रहण कर रहे हैं। योगेश्वरी देवी को अपूर्व अनुभूति हुई। उन्हें लगा कि दीर्घकाल से पूजित श्री रघुवीर ही श्रीरामकृष्णदेव के रूप में प्रकट होकर उनका नैवेद्य स्वीकार कर रहे हैं। उसी क्षण उन्हें यह भी अनुभूति हुई कि अब उन्हें साधना के लिए बाह्यपूजाचार की आवश्यकता नहीं है। यह जानकर उन्होंने श्री रघुवीर की शिला को श्रीगंगाजी में विसर्जित कर दिया।

श्रीरामकृष्णदेव के पुनीत साहचर्य में मातृहृदया भैरवी ब्राह्मणी स्नेह और ममता की तरंगों में डूब गईं। आरम्भ में कुछ दिनों तक तो वे दक्षिणेश्वर में ही रहती थीं किंतु बाद में वे दक्षिणेश्वर के समीपवर्ती गाँव में रहने लगीं और प्रतिदिन दक्षिणेश्वर आकर श्रीरामकृष्णदेव के साथ धर्म-चर्चा करने लगीं। जैसे-जैसे उन्हें श्रीरामकृष्णदेव को अधिकाधिक जानने का अवसर मिला वैसे-वैसे उनके ईश्वरत्व के सम्बन्ध में उनका विश्वास भी बढ़ता गया। यह विश्वास आकस्मिक या स्नेहवश उत्पन्न नहीं हुआ था अपितु इसकी पुष्टि अनेकानेक घटनाओं से हुई थी। कहा जा चुका है कि ईश्वरीय विरह में निमज्जित रहने के कारण श्रीरामकृष्णदेव को भीषण गात्रदाह उत्पन्न हुआ करता था। रानी रासमणि के जामाता मथुरानाथ विश्वास ने

इसके उपचार के लिए अनेक वैद्यों एवं डाक्टरों से परामर्श किया और चिकित्सा कराई थी, किन्तु गात्र-दाह के दूर होने का कोई चिह्न नहीं दिखा। योगेश्वरी देवी जानती थीं कि यह 'महाभाव' है तथा इसका उपचार औषधियों से नहीं हो सकता। वैष्णव-सम्प्रदाय के अनेकानेक ग्रन्थों के अनुशीलन से वे यह जान गई थीं कि श्रीमती राधा के समान श्री चैतन्य महाप्रभु को भी गात्र-दाह होता था तथा सर्वांग में चंदन का लेप करने से एवं पुष्पों की माला धारण करने से उनकी पीड़ा समाप्त हुई थी। कौतूहलवश उन्होंने भी श्रीरामकृष्णदेव के उपचार के लिए इन्हीं साधनों का प्रयोग किया। इससे श्रीरामकृष्णदेव को आश्चर्यजनक शांति मिली और इसके नियमित प्रयोग से उनका गात्र-दाह धीरे-धीरे समाप्त होने लगा। इन सब बातों से भैरवी ब्राह्मणी का विश्वास उत्तरोत्तर बढ़ रहा था।

श्रीरामकृष्णदेव के समान सुयोग्य शिष्य एवं अधिकारी व्यक्ति को प्राप्त कर योगेश्वरी देवी उन्हें तंत्र-मार्ग में दीक्षित करने के लिए व्यग्र हो उठीं और उन्हें तंत्र-साधना में प्रवृत्त होने के लिए अनुरोध करने लगीं। किंतु श्रीरामकृष्णदेव योगेश्वरी देवी के अनुरोध की रक्षा के लिए ही तंत्राचार में प्रविष्ट नहीं हुए। उन्हें तो इस विषय में जगन्माता का आदेश भी उपलब्ध हुआ था। श्रीरामकृष्णदेव को सहमत जानकर उन्होंने तंत्र-साधना के निमित्त आवश्यक उपकरणों को बड़े परिश्रम से जुटाया। तंत्र-साधना के लिए पंच-प्राणियों के मुण्डों का आसन

बनाया जाता है तथा अनेकानेक द्रव्यों एवं सामग्रियों की व्यवस्था की जाती है। योगेश्वरी देवी ने इस समस्त व्यवस्था का भार अपने ऊपर ले लिया। वे दिन भर साधना की आवश्यक सामग्रियों की व्यवस्था करने के लिए घूमा करतीं और समस्त व्यवस्था करने के बाद श्रीरामकृष्णदेव को बुलाकर उनसे तांत्रिक अनुष्ठानों को सम्पन्न कराया करती थीं। इस प्रकार उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव को चौंसठ तंत्रों की साधना में क्रमशः प्रवृत्त किया था और श्रीरामकृष्णदेव भी इन साधनाओं में क्रमशः उत्तीर्ण होते गए थे।

परवर्ती काल में जब श्रीरामकृष्णदेव गले की बीमारी से पीड़ित होकर काशीपुर के उद्यान-भवन में निवास कर रहे थे तब उनके अंतरंग शिष्यों को उनके श्रीमुख से तंत्र-साधना के सम्बन्ध में अनेक घटनाएँ सुनने का सौभाग्य मिला था। श्रीरामकृष्णदेव ने अपनी तांत्रिक-साधना के अनुष्ठानों का वर्णन करते हुए कहा था कि एक दिन भैरवी ब्राह्मणी कहीं से एक सुन्दरी युवती ले आईं। उन्होंने उसे विवस्त्र कर पूजा के आसन में बैठा दिया और श्रीरामकृष्णदेव को उसकी देवी-भाव से पूजा करने का आदेश दिया। पूजन समाप्त करने के उपरान्त भैरवी ब्राह्मणी ने उन्हें आज्ञा दी, "बाबा, अब तुम साक्षात् जगज्जननी भाव से इसकी गोद में बैठकर जप करो।" तब श्रीरामकृष्ण रुदन करते हुए जगन्माता से कातर स्वरों में कहने लगे, "माँ, अपने बालक को तू यह कैसी आज्ञा दे रही है? तेरा दुर्बल पुत्र यह सब कैसे कर पाएगा?" किन्तु तभी

उन्होंने अनुभव किया कि उनके हृदय में एक दिव्य शक्ति का संचार हो रहा है। उस शक्ति से प्रेरित होकर वे उस स्त्री की गोद में बैठकर जप करने में लीन हो गए। जब उनका ध्यान टूटा तब भैरवी ब्राह्मणी उनसे कहने लगीं, "बाबा, तुम्हारा अनुष्ठान पूर्ण हो गया। अनेक साधक इस अवस्था में थोड़ी देर ही अपने चित्त को एकाग्र रख पाते हैं किन्तु तुम्हारा तो देह भान तक जाता रहा !"

इसीप्रकार, योगेश्वरी देवी एक बार कहीं से नरमांस का सड़ा हुआ टुकड़ा लाकर उसे खाने का अनुरोध करने लगीं। श्रीरामकृष्णदेव उसे देखते ही घृणा से अत्यंत संकुचित हो दूर हट गए। तब वे उन्हें सांत्वना देते हुए कहने लगीं, "बाबा, इसमें घृणा की कौन सी बात है ? देखो, इसे मैं स्वयं खाती हूँ।" यह कहकर वे उसका एक टुकड़ा स्वयं अपने मुख पर रखकर चबाने लगीं। जब श्रीरामकृष्णदेव ने उन्हें इसप्रकार करते देखा तो उन्हें सहसा जगन्माता के चण्डिका-रूप का उद्दीपन हो आया और तब उन्होंने उसे मुँह से स्पर्श करने में कोई आपत्ति नहीं की।

तंत्र-साधना का मार्ग सर्वाधिक कठिन कहा गया है क्योंकि इसके अन्तर्गत साधक के पतित होने की सम्भावना प्रत्येक क्षण बनी रहती है। किन्तु श्रीरामकृष्ण अप्रतिम साधक थे। उनका मन सदैव अत्युच्च आध्यात्मिक भूमिका पर प्रतिष्ठित रहा करता था। उनके समक्ष प्रत्येक वस्तु एक निगूढ़ आध्यात्मिक आशय से युक्त होकर उपस्थित

होती थी। इसीलिए जब उन्होंने तंत्र साधना के अन्तर्गत युगनद्ध नर-नारी के दैहिक आह्लाद का अवलोकन किया था तब वे उसे शिव और शक्ति का लास समझकर आनन्दित हो उठे थे। तंत्र-साधना में प्रयुक्त कोई भी उपकरण उनके मन में लौकिक प्रतिक्रिया उत्पन्न करने में असमर्थ था। 'कारण' या सुरा का नामोच्चार मात्र ही उनमें 'जगत्कारण' का विचार उठाकर उन्हें समाधिमग्न कर देता था तथा योनि के उल्लेख से वे 'जगत्-योनि' का विचार करने लगते थे। वे स्त्री मात्र को जगज्जननी के रूप में देखा करते थे। इस साधना के द्वारा उनकी यही अनुभूति अधिक बलवती हुई थी और वे प्रत्येक रमणी में साक्षात् जगन्माता को विद्यमान देखने लगे थे। इसके अतिरिक्त, वैष्णव तंत्र की साधना के अन्तर्गत उन्हें अनेकानेक दिव्य-अनुभूतियाँ भी हुई थीं। जब उन्होंने कालीमंदिर के प्रांगण में दिन में सबके समक्ष कुलागार पूजन किया था तो उन्हें कुलागार में साक्षात् जगदम्बा के दर्शन हुए थे।

योगेश्वरी देवी के कुशल निर्देशन में श्रीरामकृष्णदेव अनेकानेक जटिल तांत्रिक साधनाओं को सहज ही सम्पन्न करते गए और उन्हें समस्त सिद्धियाँ भी उपलब्ध हुईं। किंतु वे ऐसे महामानव थे जिनका अहं पूरी तरह से नष्ट हो चुका था और जिनका देहभान तक जाता रहा था। जिन साधनाओं को सम्पादित करने में अनेक महान् एवं धैर्यवान साधक पथभ्रष्ट हो जाते हैं, और जहाँ एक साधना

की सिद्धि में उन्हें पूरा जीवन लग जाता है, वहीं एवंविध सैकड़ों साधनाओं को श्रीरामकृष्ण देव ने दो-दो तीन-तीन मिनट में साध लिया और इस प्रकार तंत्रमार्ग की सूक्ष्म से सूक्ष्मतम साधनाओं में भी वे अल्पकाल में ही सिद्ध बन गये। पर वे सिद्धियों को विष्ठा के समान त्याज्य समझते थे, इसलिए सिद्धियाँ उन्हें तनिक भी विचलित नहीं कर सकीं।

योगेश्वरी देवी ने श्रीरामकृष्णदेव से मिलने के पहले चन्द्र और गिरिजा नामक दो व्यक्तियों को तंत्र-दीक्षा दी थी। वे दोनों उच्च कोटि के साधक थे तथा श्रीभगवान् ने उन्हें पूर्ण बनाने के लिए दक्षिणेश्वर की ओर आकर्षित किया था। श्रीरामकृष्णदेव से इनका परिचय योगेश्वरी देवी ने ही कराया था। यद्यपि वे साधना के मार्ग में काफी आगे बढ़ गए थे और उन्हें कुछ सिद्धियाँ भी मिल गई थीं किंतु उन्हें लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकी थी। चन्द्र के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्णदेव बताया करते थे कि उन्हें गुटिका सिद्धि' मिल गई थी और वे उस सिद्धि के बल पर अदृश्य हो जाया करते थे। इस सिद्धि के कारण चन्द्र का अभिमान बढ़ गया था। फलतः धीरे-धीरे उनकी अवनति होने लगी थी और वे कामिनी-कांचन के प्रति अनुरक्त होने लगे थे। उन्होंने अपनी सिद्धि के द्वारा एक धनी वर्ग की कन्या से अपना सम्पर्क स्थापित कर लिया था तथा अदृश्य होकर वे उसके पास आया-जाया करते थे। इस दोष के कारण कालान्तर में उनकी शक्ति नष्ट हो गई और उन्हें

पर्याप्त लज्जित होना पड़ा। इसी प्रकार गिरिजा को भी आलोक उत्पन्न करने की सिद्धि मिली थी किंतु उनकी यह क्षमता स्थायी न रह सकी। श्रीरामकृष्णदेव के साहचर्य में उनकी सिद्धियाँ और उनसे उत्पन्न अहंकार की भावना नष्ट हो गई और वे पुनः आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सचेष्ट हो गए।

अपने गुरुभाइयों को कल्याण के पथ पर अग्रसर कराने के उपरान्त श्रीरामकृष्णदेव ने योगेश्वरी देवी के जीवन को पूर्ण बनाने का उपक्रम किया। योगेश्वरी देवी ने जहाँ श्रीरामकृष्णदेव को तांत्रिक साधना के मार्ग में प्रवृत्त किया था, वहाँ श्रीरामकृष्णदेव के पुनीत साहचर्य से उनमें अपनी साधना को पूर्णता के शिखर पर पहुँचाने की प्रेरणा भी जगी थी। वे मातृभाव की प्रतिमूर्ति थीं। जब वे मातृस्नेह से विभोर होकर अपने हाथ में मिष्टान्न इत्यादि लेकर श्रीरामकृष्णदेव को खोजते हुए 'गोपाल' 'गोपाल' पुकारते हुए दक्षिणेश्वर में उपस्थित होती थीं तब लोगों को ऐसा प्रतीत होता था मानो साक्षात् नंदरानी यशोदा ही अपने कन्हाई को पुकारते हुए बावली होकर घूम रही हैं। उनके हृदय में मातृस्नेह का अकूल-अथाह पारावार उमड़ता रहता था—ऐसा स्नेह जो पुत्र के समस्त ऐश्वर्य को भुलाकर उसे पलकों के सम्पुट में छिपाकर रखना चाहता है। यह भाव उनके लिए पूरी तरह से स्वाभाविक था। श्रीराम के अवतारी रूप से परिचित होते हुए भी माता कौशल्या का हृदय बनवासी राम और

लक्ष्मण के लिए चिंतित हो उठा था और वे विकल हो सोचने लगी थीं:—

बन को निकरि गए दोउ भाई।
सावन गरजै भादौ बरसै पवन चलै पुरवाई।
कौन बिरिछ तर भीजत ह्वै हैं राम लखन दोउ भाई॥

इसी प्रकार बाल गोपाल के मुख में चराचर ब्रह्माण्ड को उपस्थित जानते हुए भी माता यशोदा, कन्हैया के दूसरे गाँव जाने पर, केवल इसी बात की चिन्ता कर बिलखने लगी थीं कि प्रातः समय उठकर कौन उनके कुँअर कान्ह को बिना माँगे माखन-रोटी देगा। अतः श्रीरामकृष्णदेव के प्रति संन्यासिनी योगेश्वरी देवी के मन में इसप्रकार के अगाध स्नेह-पारावार का उमड़ना, अस्वाभाविक न था।

किंतु भैरवी ब्राह्मणी के हृदय में पुत्र-स्नेह की आड़ में एक नई भावना भी पनप रही थी। श्रीरामकृष्णदेव को तंत्रोक्त साधनाओं में सफलतापूर्वक निर्देशित करने के उपरान्त योगेश्वरी देवी के मन में ऐसी धारणा बन गई थी कि वे ही श्रीरामकृष्णदेव की समस्त सुख-सुविधा का ध्यान रख सकती हैं तथा श्रीरामकृष्णदेव को प्रत्येक कार्य में उनकी आज्ञा की अपेक्षा करनी चाहिए। मातृ-स्नेह के आवरण में अनजाने में उनका अहं भाव बढ़ रहा था। यहाँ तक कि वे श्रीरामकृष्णदेव को किसी व्यक्ति से स्नेहपूर्वक बातें करते देखकर विचलित हो उठती थीं। सम्भवतः उनके मन में ऐसी आशंका उठने लगती थी कि कोई श्रीरामकृष्ण-

देव को उनसे अलग न कर दे। किन्तु श्रीरामकृष्णदेव योगेश्वरी देवी को साक्षात् जन्मदायिनी माता के समान मानते थे। यह बात योगेश्वरी देवी नहीं समझ सकी थीं। इसलिए धीरे-धीरे उनके हृदय में अन्य लोगों के प्रति ईर्ष्या की भावना बढ़ती जा रही थी।

श्रीरामकृष्णदेव की लीला-सह धर्मिणी श्री माँ सारदा योगेश्वरी देवी को पूजनीया सास समझकर सम्मान दिया करती थीं किन्तु योगेश्वरी देवी श्रीरामकृष्णदेव को उनसे वार्तालाप करते हुए देखकर ईर्ष्या का अनुभव करने लगी थीं तथा अनेक अवसरों पर उनका यह भाव प्रकट भी हुआ था। इसीप्रकार अद्वैत वेदान्त के अप्रतिम साधक श्रीमत् तोतापुरी जी जब दक्षिणेश्वर पधारे थे तब योगेश्वरी देवी ने श्रीरामकृष्णदेव को उनसे दूर करने का प्रयास करते हुए कहा था, "बाबा, ऐसे (ज्ञानी) व्यक्तियों से अधिक मिलना-जुलना ठीक नहीं है। इससे भाव नष्ट हो हो जाता है।" किन्तु योगेश्वरी देवी की यह स्थिति शीघ्र ही परिवर्तित हो गई। उन्हें जब अपनी दुर्बलता का बोध हुआ तब वे अपने अंतराल में एक अनिवर्चनीय आध्यात्मिक स्फूर्ति का अनुभव करने लगीं। उन्हें यह भी अनुभूति हुई कि श्रीरामकृष्णदेव से विलग हुए बिना उनका ममत्व-भाव दूर नहीं हो सकेगा, इसलिए वे श्रीरामकृष्णदेव से विदा लेकर तीर्थ यात्रा के लिए निकल गईं।

भैरवी ब्राह्मणी को श्रीरामकृष्णदेव योगमाया की अंशसंभूता कहा करते थे। महिला होते हुए भी वे श्रीराम-

कृष्णदेव की प्रथम दीक्षा-गुरु थीं तथा उनके निर्देशन में श्रीरामकृष्णदेव ने तंत्र-साधना को सम्पन्न कर नारीजाति की महत्ता एवं गरिमा को पुनः प्रतिष्ठित किया था। दक्षिणेश्वर से प्रस्थान करने के उपरान्त भैरवी ब्राह्मणी का वहाँ फिर आगमन नहीं हुआ। अपने अंतिम दिनों में वे काशीधाम में निवास करते हुए कठिन तपश्चर्या में लीन थीं।

तुम समाज के साथ ही ऊपर उठ सकते हो और समाज के साथ ही तुम्हें नीचे गिरना होगा। यह तो नितान्त असम्भव है कि कोई व्यक्ति अपूर्ण समाज में पूर्ण बन सके। क्या हाथ अपने आपको शरीर से अलग रखकर बलशाली बन सकता है? कदापि नहीं।

—स्वामी रामतीर्थ

आत्म-साक्षात्कार

राय साहब हीरालाल वर्मा, रिटायर्ड डिपुटी कमिश्नर।

छान्दोग्योपनिषद् के उत्तरार्ध में एक आख्यान है कि उद्दालक ऋषि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से पूछा कि क्या तुम उसको जानते हो, जिससे नहीं सुनी हुई, नहीं समझी हुई और नहीं जानी हुई वस्तु, सुनी हुई, समझी हुई और जानी हुई हो जाती है ? इसका उत्तर न दे सकने पर उद्दालक ऋषि ने समझाया कि हे पुत्र ! जैसे मिट्टी के बने हुए बर्तन अथवा स्वर्ण से बने हुए जेवर अथवा लोहे से बनी हुई वस्तुएँ सब अपने कारण रूप मिट्टी, सोना अथवा लोहा ही है, और उनसे पृथक् उनकी कोई सत्ता नहीं, इसी तरह इस नामरूपात्मक जगत् में सब वस्तुएँ निस्संदेह ब्रह्मरूप ही हैं, क्योंकि सृष्टि के उत्पन्न होने के पहिले एक अद्वितीय ब्रह्म ही था। इस पर श्वेतकेतु ने कहा कि हे भगवन् ! मुझे और भी उपदेश दीजिये। इस पर उद्दालक ऋषि ने बतलाया कि जब स्वप्न के बाद सुषुप्ति अवस्था आती है, तब जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त होता है। जिस प्रकार सूत से बँधा हुआ पक्षी चारों ओर घूम-फिर कर, दूसरी जगह बैठने के लिए स्थान न पाकर, बँधी हुई जगह का ही आश्रय लेता है, इसी तरह मन भी घूम-फिर कर प्राण अथवा ब्रह्म में ही आश्रय लेता है। आत्मा अति सूक्ष्म है, परन्तु वही सत्य है, वही यह सब जगत् है, और वही तू है।

इस पर श्वेतकेतु ने प्रार्थना की कि मुझे और भी कुछ उपदेश किया जावे। तब उद्दालक ने समझाया कि जैसे मधुमक्खियाँ बहुत प्रकार के वृक्षों के रसों को जमा करके उनसे शहद बनाती हैं और फिर इन विविध रसों को इस बात का ज्ञान नहीं रह जाता कि वे अमुक अमुक वृक्ष के अलग अलग रस हैं, उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में जीवों को ज्ञान नहीं रहता कि वे सोने के पहिले पृथक थे और अब ब्रह्म को प्राप्त हो गये हैं। इस दृष्टान्त में और जीव की अवस्था में भेद यह है कि यद्यपि शहद में से उनके विविध रस फिर अलग नहीं किये जा सकते, किन्तु जीव जब सोते हैं तो अपनी वासना और अहंता के साथ सुषुप्ति में प्रविष्ट होते हैं और इसी कारण जागने पर वे अपने पहिले रूप में पुनरावर्तन करते हैं।

दूसरा उदाहरण देते हुए उद्दालक ऋषि ने समझाया कि जैसे नदियाँ, जो समुद्र के जल से उठकर बादलों द्वारा पानी के रूप में बरसकर बनती हैं, पुनः समुद्र को बहकर समुद्ररूप हो जाती हैं और फिर यह नहीं जानतीं कि वे गंगा थीं अथवा यमुना, कावेरी या नर्मदा; इसी तरह समस्त जीव सुषुप्ति में सत् ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं, लेकिन जब फिर जाग्रत् अवस्था में आते हैं तब उनको यह ज्ञान नहीं रहता कि वे सत् ब्रह्म को प्राप्त होकर आये हैं। इन दृष्टान्तों को सुनकर श्वेतकेतु ने कहा कि हे पिता! आप मुझे और भी उपदेश करें। इस पर उद्दालक ऋषि ने कहा कि सामने वाले वट वृक्ष में से एक फल तोड़ लाओ और

उसको फोड़कर देखो कि उसके अन्दर क्या है? श्वेतकेतु ने कहा कि उसके अन्दर छोटे छोटे बीज हैं। फिर पिता ने कहा कि इनमें से एक बीज को तोड़ो और उसके अन्दर देखो क्या है? श्वेतकेतु ने कहा कि हे भगवन्। इसके अन्दर कुछ भी नहीं है। इसपर उद्दालक ऋषि ने समझाया कि तू विश्वास कर कि इस छोटे से बीज के अन्दर सारा वृक्ष समाया हुआ है। इसी प्रकार सारी सृष्टि सूक्ष्म परमात्मा के अन्दर समाई हुई है और वही आत्मा है और वही तू है!

फिर ऋषि ने एक नमक का ढेला श्वेतकेतु को देकर कहा, 'इसे एक पानी भरे हुए बर्तन में डालकर, दूसरे दिन प्रातःकाल मेरे पास ले आ।' दूसरे दिन श्वेतकेतु ने देखा तो लवण का कहीं पता न पाया, और पानी के ऊपर, नीचे और मध्य जिस भाग को चखा, सब जगह उसे खारा-पन मालूम हुआ। तब उद्दालक ऋषि ने समझाया कि हे सौम्य! इसी प्रकार सत् ब्रह्म इस शरीर में स्थित है, परन्तु दीखता नहीं। दूसरा उदाहरण देते हुए उन्होंने और समझाया कि जिस प्रकार कोई चोर नेत्र-बन्द पुरुष को गांधार देश से लाकर किसी निर्जन वन में छोड़ दे तो वह पुरुष चारों ओर मुँह करके चिल्लाते हुए भी अपने देश का मार्ग नहीं ढूँढ़ सकता; परन्तु यदि कोई पुरुष उसको आँख को पट्टी खोलकर उसे गांधार देश को दिशा बतलादे, तो वह एक ग्राम से दूसरा ग्राम पूछता हुआ अपने घर को वापस आ सकता है; इसी तरह यदि कोई सद्गुरु किसी

अज्ञ पुरुष के ज्ञानरूपी नेत्रों पर से अविद्या रूपी पट्टी खोल दे, तो वह पुरुष बन्धन से छूटकर सत् ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। ऊपर दिये हुए उदाहरणों द्वारा ऋषि ने समझाया कि जिस प्रकार सुषुप्ति में जीवात्मा का नाश नहीं होता, केवल थोड़े समय के लिए सत् ब्रह्म में मिल जाता है और जागने पर उस सत् ब्रह्म से वियोग प्राप्त कर फिर शरीर में अभिमानी हो जाता है, इसी प्रकार वह शरीर से अलग होने पर भी नाश को प्राप्त नहीं होता, वरन् कुछ काल पश्चात् किसी नवीन शरीर से सम्बन्धित हो जाता है और पूर्व जन्म के कर्मों और संस्कारों को भोगता है। वटवृक्ष के बीज द्वारा यह समझाया गया है कि जैसे बीज के अन्दर सारा वृक्ष अपने गुणों सहित समाया रहता है और बीज ही वृक्ष का अधिष्ठान होता है, इसी तरह आत्मा सूक्ष्म और अणु होते हुए भी सारे संसार का आदि कारण और अधिष्ठान है। जैसे पानी में गला हुआ नमक आँख से नहीं दिखाई देता, लेकिन स्वाद से प्रतीत होता है, इसी तरह आत्मा बाह्य नेत्रों से भले ही न दिखाई दे, तो भी शास्त्र और ज्ञानचक्षु से उसका अवश्य अनुभव कर सकते हैं, और उचित अभ्यास के उपरान्त आत्मा का स्वरूप दिखलाई देने पर उस अवस्था का नाम आत्म-साक्षात्कार होता है।

अप्रत्यक्ष का साक्षात् होना सम्भव है। जिस तरह भूख-प्यास, क्रोध-काम आदि अवस्थाएँ अप्रत्यक्ष तो हैं, लेकिन उनका अनुभव होता है, इसी प्रकार वासनाओं का

नाश होने पर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का यथार्थ अर्थ समझ में आने लगता है और आत्म-साक्षात्कार हो जाता है।

वेदान्त ग्रन्थों में जगह जगह बतलाया गया है कि परमात्मा का साक्षात्कार हो जाना ही मनुष्य-जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। मोक्ष के प्रकरण में बतलाया गया है कि मृत्यु के चक्कर से सदा के लिये छूट जाने का नाम ही मुक्ति है। भेदोपासना के अनुसार मुक्ति के चार भाग किये गये हैं:— (१) सालोक्य अथवा भगवान् के लोक में निवास करना, (२) सामीप्य अर्थात् भगवान् की सन्निधि में निवास करना, (३) सारूप्य यानी भगवान् के समान रूप की प्राप्ति होना और (४) सायुज्य अथवा भगवान् में विलीन हो जाना। ये मुक्तियाँ शरीरान्त होने के पश्चात् मिलती हैं। परन्तु इस देह के रहते हुए भी मनुष्य का जीवनमुक्त हो जाना संभव है। कठोपनिषद् (२।३।४) में बतलाया गया है कि इस देह के पतन होने के पूर्व ही यदि ब्रह्म को न जान लिया तो जीव फिर शरीरभाव को प्राप्त होता है और पाँचवे श्लोक में समझाया है कि जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित मनुष्य अपने आपको स्पष्टतया देखता है, उसी प्रकार निर्मल हुई अपनी बुद्धि में भी आत्मा का स्पष्ट दर्शन हो सकता है। इसी सिद्धान्त की पुष्टि केनोपनिषद् (२।२।५) में की गई है, जहाँ समझाया गया है कि यदि इस जन्म में ब्रह्म को जान लिया तो ठीक, वरना मनुष्य जन्म-मरण-परम्परा में फँसा रहता है।

अब प्रश्न यह है कि आत्म-अनुभव किस प्रकार सुलभ हो सकता है? मुण्डकोपनिषद् (१।१।५) में बतलाया गया है कि जिस विद्या से परमात्मा का ज्ञान होता है उसको 'परा' विद्या अथवा ब्रह्मविद्या कहते हैं। लेकिन इस ब्रह्म-विद्या के मिलने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। कठोपनिषद् (२।१।१) में बतलाया गया है कि सबसे प्रथम प्रतिबन्ध का कारण है, इन्द्रियों का बहिर्मुख होना। इस श्लोक में कहा है कि "परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है, इसी से जीव बाह्य विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। जिसने अमरत्व की इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियों को रोक लिया है ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा को देख पाता है।" इसी उपनिषद् के (१।२) २४ वें श्लोक में यह भी समझाया गया है कि "जो पाप कर्मों से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं, और जिसका चित्त असमाहित और अशान्त है, वह इसे आत्मज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता।" इसी तरह मुण्डकोपनिषद् (३।१।५) में समझाया गया है कि "जो ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा शरीर के भीतर रहता है, वह सर्वदा सत्य से, तप अथवा मन और इन्द्रियों की एकाग्रता से, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।" इसी उपनिषद् में आगे चलकर (३।२।४) बतलाया गया है कि "आत्म-ज्ञान बलहीन पुरुष को नहीं मिलता, न वह प्रमाद से अथवा सन्यास रहित तपस्या से ही मिलता है और न प्रवचन से ही प्राप्त होने योग्य है। यह अधिक

श्रवण करने से भी नहीं मिलता; वरन् जो विद्वान् परमात्मा की प्राप्ति की प्रबल इच्छा करता है, उसी के प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को व्यक्त कर देता है।" श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।२२) में आदेश किया गया है कि ब्रह्मविद्या का उपदेश उसी जिज्ञासु को किया जाय जिसका चित्त अत्यन्त शान्त हो गया हो, यानी रागादि सम्पूर्ण मलों से रहित हो चुका हो। इसके बाद २३ वें श्लोक में बतलाया गया है कि उसी विद्यार्थी के प्रति तत्त्वों का प्रकाश होता है, जिसकी परमेश्वर में और अपने गुरु में अत्यन्त भक्ति होती है।

उपनिषदों में कई जगह कहा गया है कि गुरु को चाहिये कि मुमुक्षु को पहिले ओंकारोपदेश करे। कठोपनिषद् (१।२।१६) ने समझाया है कि 'ॐ' यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही 'पर' है। इस अक्षर को जानकर जो जिसकी इच्छा करता है, वही उसका हो जाता है। छान्दोग्योपनिषद् (२।२३।३) में बतलाया गया है कि ओंकार ही ब्रह्म है। जैसे डंठल के आसरे सब पत्ते लगे रहते हैं, उसी प्रकार ओंकार के सहारे सब वाणी व्याप्त है और वाणी के सहारे विषय हैं, इसीलिये यह सारा जगत् ओंकार रूप ही है। इसी उपनिषद् के पूर्वार्ध में 'ओंकार' की व्याख्या और विशेषता समझाते हुए (१।५।३) यहाँ तक कहा गया है कि सूर्य भी अपने मण्डल में भ्रमण करता हुआ ओंकार शब्द का ही उच्चारण किया करता है। माण्डूक्योपनिषद् में तो ओंकार शब्द की विस्तारपूर्वक

व्याख्या की गई है, और ओंकार-उपासना से केवल चित्त की ही शुद्धि नहीं, वरन् ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का होना भी बतलाया गया है।

श्रीयुत रानाडे ने अपनी पुस्तक "A Constructive Survey of Upanishadic Philasophy" (ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फ़िलासफी) में बतलाया है कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति धीरे धीरे एक पद से दूसरे पद को चढ़ते हुए होती है। इस ज्ञान-नसेनी में पाँच डण्डे अथवा पद होते हैं। प्रथम श्रेणी में जब द्वैतभाव रहता है, तब इस बात का अनुभव करना होता है कि अपनी आत्मा ही सत्य है और वही एक दर्शन करने योग्य वस्तु है। इस विषय को बृहदारण्यकोपनिषद् के (२।४।५) "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" मंत्र में इस प्रकार समझाया गया है :—

याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को समझाया कि पति के प्रयोजन के लिए पति भार्या को प्यारा नहीं होता, किन्तु निज के प्रयोजन के लिये। इसी तरह पुत्र, धन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, देव इत्यादि उन-उन वस्तुओं के लिये मनुष्य को प्रिय नहीं होते, बल्कि अपने आत्मा के लिए ही मनुष्य को ये सारी चीजें प्यारी होती हैं। इसलिए यह अपना आत्मा ही दर्शन के योग्य है, यही निश्चय करने योग्य है। इस आत्मा के दर्शन से, सुनने से, समझने से, जानने से, सब कुछ ब्रह्माण्ड के विषय में जाना जाता है।

जब इस तरह अपनी आत्मा का महात्म्य समझ में आ जावे, तब आत्मज्ञान की दूसरी सीढ़ी उपलब्ध होती

है। इस श्रेणी में इस बात का बोध करना पड़ता है कि जिस आत्मा का वैभव हमने ऊपर लिखे अनुसार सीखा है, वही हमारे भीतर है। बल्कि 'मैं' और 'आत्मा' में कोई अन्तर नहीं। इसको बृह० उ० के ४।४।१२ वें मंत्र "आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः" में इस प्रकार बतलाया गया है कि "सब पुरुषों को ज्ञान है कि 'मैं हूँ' पर अपने रूप का उनको यथार्थ ज्ञान नहीं होता। यदि यह ज्ञान हो जाय तो फिर उन्हें किसी प्रकार की इच्छा या कामना के लिये दुःखी न होना पड़े।" "मैं ही आत्मा हूँ" इसका विश्वास होने के लिये अन्वय-व्यतिरेक द्वारा यह समझना चाहिये कि "मैं शरीर नहीं हूँ, इन्द्रिय नहीं हूँ, मन बुद्धि और अहंकार नहीं हूँ, मैं पाँचों कोशों में से कोई भी नहीं हूँ, और मैं जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था से भी परे हूँ।" इस प्रकार पूर्ण ज्ञान और विश्वास हो जाने पर तीसरी श्रेणी मिलती है। इस दर्जे में मुमुक्षु को समझना पड़ता है कि हमारे शरीर की आत्मा का लक्षण परमात्मा के लक्षणों के समान है, अथवा आत्मा और परमात्मा एक ही वस्तु है। इसका भी उपदेश बृह० उ० के २।५।१६ वें मंत्र "अयमात्मा ब्रह्म" में इस प्रकार समझाया गया है:-

"याज्ञवल्क्य ने कहा, हे प्रिय मैत्रेयी, परमात्मा हर एक रूप में प्रतिबिम्बरूप से स्थित रहता है; क्योंकि बिना प्रतिबिम्ब के ज्ञान के, बिम्ब का ज्ञान नहीं हो सकता। वह परमात्मा नाम रूप उपाधि के कारण बहु रूप वाला प्रतीत होता है; वास्तव में उसका एक ही रूप है। यही प्रत्यगात्मा

व्यापक ब्रह्म है, यह अद्वितीय आत्मा ही सब का अनुभवी है और यही वेदान्त का उपदेश है।"

इस तरह से आत्मा और परमात्मा का एकत्व हो जाने पर जिज्ञासु चौथी सीढ़ी पर पहुँचता है। तब वह बृह० उप० के १।४।१० वें मंत्र (अहं ब्रह्मास्मि) के अनुसार कह सकता है कि सृष्टि के आदि में केवल एक ब्रह्म ही था और वही ब्रह्म अब अपने को समझता है कि "मैं ही ब्रह्म हूँ"। अथवा छा० उप० के ६।८।७ वें मंत्र "तत्त्वमसि" के अनुसार वह कह सकता है कि "जो अति सूक्ष्म और सबका अधिष्ठान कहा गया है, वही यह तेरा आत्मा है और वही तू है।" जब इस प्रकार इन चार श्रेणियों का अनुभव हो जाय, तब आत्म-सीढ़ी के पाँचवें पद पर पहुँच कर, छा० उप० के ३।१४।१ मंत्र "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" के अनुसार मनुष्य को हर जगह ब्रह्म ही ब्रह्म दीखता है। उस अवस्था में ही वेदान्ती कह सकता है कि यह जगत् मिथ्या है, अथवा सारी नामरूपात्मक वस्तुएँ निश्चय करके ब्रह्म ही हैं। जब यह अवस्था प्राप्त हो जावे, तब समझना चाहिये कि आत्मा का साक्षात्कार हुआ।

योगवासिष्ठ में बतलाया गया है कि "जीवन्मुक्ति की दशा प्राप्त होने पर मनुष्य जगत् का सारा व्यवहार करता हुआ भी, उसके मन में किसी वस्तु के प्रति रसिकता न रह जाने के कारण, शान्त कहलाता है; प्राकृत कामों में लगा हुआ भी उदासीन के समान रहता है। वह रागद्वेषों के वश में नहीं रहता। वह अपूर्व विश्रान्ति का अनुभव

करता है। जब उसे यह ज्ञात हो जाता है कि आत्मा से अतिरिक्त और कोई दूसरा पदार्थ सत्य ही नहीं, तब फिर उसका आत्मा किसकी इच्छा करे? समाहित चित्त वालों के लिये तो घर और वन एकसे हैं। ज्ञानी लोग भी इन्द्रियों द्वारा प्राप्त विषयों का तिरस्कार नहीं करते और अप्राप्त विषयों को पाने का यत्न नहीं करते, वे परिपूर्ण भाव में स्थित रहते हैं। यह शरीर-नगरी बड़ी सुरम्य और आत्म-सूर्य का प्रकाश करने वाली है। जो अपने शरीर और मन का ज्ञान रखता है, उसके लिये यह सर्व सौभाग्य वाला देह परमहित और सुख को देने वाली है। परन्तु अज्ञानियों के लिये यही शरीर अनन्त प्रकार के दुःखों का देने वाला है। आत्म-अनुभव एक विचित्र अनुभव है, जिसकी उपमा किसी दूसरे अनुभव से नहीं दी जा सकती। उसका आनन्द वही जानता है जिसे अनुभव हो जाता है।

रानाडे साहब की उपर्युक्त पुस्तक से ज्ञान-उत्थान की ये पाँच सीढ़ियाँ बतलाई गईं। इनमें से पहिली सीढ़ी के बारे में सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि किसी को भी अपनी सत्ता में तनिक भी संदेह नहीं होता और न किसी को अपने उत्पन्न होने का स्मरण होता है। पैदा हम सब होते हैं, परन्तु जो पैदा होता है, वह है हमारा शरीर, न कि आत्मा। चूँकि आत्मा का जन्म नहीं होता, इसलिये उसको अपने जन्म-समय का स्मरण ही नहीं होता और जो जन्मा नहीं उसका मरण भी संभव नहीं। इसलिये आत्मा नित्य है अथवा सत् है। अपने धर्म-ग्रन्थों में उसके अनादि और

अनन्त होने के अनेकों प्रमाण हैं, जो पिछले प्रकरणों में बतलाये जा चुके हैं। देखिये, मुण्डक उप० के १।१।६ में भी समझाया गया है कि आत्मा नित्य है।

दूसरी सीढ़ी के बारे में, यानी आत्मा शरीर से पृथक् है, इस विषय में 'आत्मबोध' शीर्षक प्रकरण में पर्याप्त सामग्री दी गई है।

तीसरी श्रेणी के लिये यानी यह समझने के लिये कि आत्मा और परमात्मा के लक्षण एक ही हैं, 'पंचदशी' में भली प्रकार समझाया गया है कि आत्मा भी सत्-चित्-आनन्द होने के कारण परमात्मा ही है। आत्मा सत् है, यह तो ऊपर बतला ही दिया गया है। वह चित् है अथवा चैतन्य है, इसको इस प्रकार समझाया गया है :—

जाग्रत् अवस्था में इन्द्रियों के विषयों का यानी जगत् के पदार्थों और उनके गुणों का ज्ञान होता है। यह ज्ञान भिन्न भिन्न वस्तुओं और उनके रूप, गंध, स्वभाव इत्यादि के अनुसार भले ही पृथक् हो, परन्तु विषयों से अतिरिक्त जो उनका ज्ञान है, वह सबके लिए एकही होता है। इसी प्रकार स्वप्न अवस्था में (जब आत्मा इन्द्रियों से सम्बन्ध तोड़ देना है) जो मनके द्वारा काल्पनिक दृश्य नजर आता है उसका ज्ञान, दृश्यों की अनेकता होते हुए भी, एक ही होता है। सुषुप्ति अवस्था में जब जीव मन को भी छोड़ देता है और बिलकुल बेखबर हो जाता है तब भी जागने पर उसे उस बेखबरी की स्मृति रहती है। सारांश यह

कि आत्मा का ज्ञान हर अवस्था में बना रहता है और इसीलिए वह चित् है।

समाधि अथवा तुरीयावस्था में आत्मा स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनों शरीरों से असंग हो जाता है और अपनी निजानन्द अवस्था को प्राप्त होता है। इस आत्मा के आनन्द रूप का अनुभव जीवन-मुक्त को होता है। इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि जीवात्मा सच्चिदानन्द ही है और चूँकि हमारी श्रुतियों में यह परिभाषा परमात्मा की कही गयी है, इसलिये आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। गीता (१०।२०, १३।२) में तो स्पष्ट तया बतलाया गया है कि "सब भूतों के हृदय में स्थित सबका आत्मा मैं हूँ और सब शरीरों में जीवात्मा भी मुझ ही को जान"।

इस तरह विश्वास हो जाने पर जब जिज्ञासु तीसरी कक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है, तब उसे 'तत्त्वमसि' या 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्यों की यथार्थता प्रतीत होने लगती है, जिसका नाम आत्म साक्षात्कार है।

आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंह ने अपनी पुस्तक 'वेदानुवचन' में आत्मसाक्षात्कार के निम्न लिखित उपाय बतलाये हैं:—

ज्ञानकाण्ड :—

(१८) इसके अनुभव के लिये जिज्ञासु को चाहिये कि पहिले इन्द्रियों को निष्क्रिय करके अपनी वृत्तियों को भीतर ही ध्यान पूर्वक देखे। इस दशा में विविध विचार

उत्पन्न होंगे और दूर होंगे। वह जो इन ख्यालों के उदय-अस्त और उनके लगातार सिलसिले को देखता और प्रकाशित करता है, वही आत्म-ज्योति है।

(१६) जिस तरह आँख दर्पण की सहायता के बिना अपने आप को नहीं देख सकती, उसी तरह आत्म-ज्योति भी विचारों की विद्यमानता के बिना अपने आप को नहीं अनुभव कर सकती। इसी कारण मन या अन्तःकरण उस आत्म-ज्योति का प्रकट-स्थान या प्रकट-कर्ता नियत हुआ है।

(२०-२१) अब यों समझो कि अन्तःकरण में उपर्युक्त नियमानुसार जब आत्म-ज्योति का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो उसी अन्तःकरण की वृत्तियों के प्रकाशित करने और जानने का नाम ज्ञान है। ज्ञान में एक भाग तो यही भीतरी ज्योति है और दूसरा भाग अन्तःकरण है, जो वृत्तियों या ख्यालों के रूप में तरंगित होता है। और जब कोई वस्तु इस ज्ञान में आ जाती है, तो मन का भाग जो ख्याल है उस वस्तु के रूप में तद्रूप हो जाता है, और यह भीतर की ज्योति उसपर प्रकाशमान होती है, उसे प्रकाशित करती और देखती है।

(२२) इस तरह जब हम किसी वस्तु का ध्यान करते हैं, तो ज्ञानी को समझना चाहिये कि ख्याल तो मन का भाग है, और आत्म-ज्योति उसका साक्षी है।

(२३) ऐसा समझकर साधक को चाहिये कि इस विवेक का लाभ करने के लिये पहिले अपनी वृत्ति को किसी वस्तु के रूप पर स्थापित करे। जब वह वृत्ति वस्तु से

तद्रूप हो जाय, तो फिर ध्यान में जो दिखाई देता है, और वह जो देखता है, उन दोनों में विवेक करे, तो देखने वाले आत्मा का इस नियम से बिजली के समान अनुभव होगा।

(२४) जब ऐसा अनुभव हो तो अभ्यास करता रहे, किन्तु यह स्मरण रहे कि इस अभ्यास में साक्षी और साक्षीभूत (ख्याल की वस्तु) और साक्ष्य (ज्ञान) तीनों विद्यमान हैं। यद्यपि वह ज्ञान का ख्याल केवल एक ही वस्तु का होगा, चाहे वह किसी बाह्य वस्तु का हो अथवा भीतरी अवस्था का, जैसे अनहद शब्द का सुनना, किन्तु त्रिपुटी यहाँ बनी रहती है। कुछ काल तक इस प्रकार का अभ्यास करते करते, ज्ञात वस्तु और उसके ज्ञान का नष्ट होना आरंभ होगा और यहाँ तक नष्ट हो जायेगा कि निर्विकल्प समाधि की अवस्था विद्यमान हो जायेगी, जहाँ कि वृत्ति या ख्याल का कोई उदय-अस्त नहीं रहता। जिस दशा में मन अर्थात् अन्तःकरण शान्त होकर तरंगित नहीं होता, अर्थात् संकल्प - विकल्प नहीं करता, वहाँ आत्म-ज्योति जलते हुए अंगार के समान (जिसमें धुआँ या लाट या चिनगारी नहीं) स्थित रहती है। और ऐसी अवस्था का ज्ञान भी इस निर्विकल्प समाधि से उठने पर होता है, समाधि के समय नहीं। इसी समाधि की अवस्था को आत्मसाक्षात्कार कहते हैं; और इसी साक्षात्कार पर प्रसाद निर्भर है।

आत्मसाक्षात्कार होने की विधि जो बाबा नगीनासिंह ने ऊपर बतलाई है, उसकी पुष्टि भगवत्गीता (१४।१८) से भी होती है। उसमें बतलाया गया है कि जब

द्रष्टा इस बात को जान लेता है कि दृश्य पदार्थों में उनके गुणों के अतिरिक्त अन्य कोई कर्ता नहीं है और वह तीनों गुणों से परे जो तत्व है उस सच्चिदानन्द घन स्वरूप परमात्मा को पहचान लेता है, उस समय वह आत्म-स्वरूप हो जाता है। इस 'आत्मानन्द' की व्याख्या योगवासिष्ठ में इस प्रकार की गई है :—

"आत्मानुभव ही हमारा अन्तिम पद है, वही हमारी अन्तिम शान्तगति है, वही हमारा परम, नित्य और कल्याण मय श्रेय है। उसमें विश्राम पाकर फिर हमको भ्रम में नहीं पड़ना पड़ता। उस महा आनन्द की पदवी को प्राप्त करके प्राणी दृश्य जगत् को कुछ भी नहीं समझता।"

गीता (१४-२०) में बतलाया गया है कि ऐसी अवस्था होने पर, पुरुष जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकार के दुःखों से मुक्त होकर परमानन्द को प्राप्त हो जाता है।

—×—

अपनी और संसार की सेवा इसी में है,
कि तुम सदा पवित्र विचार रखो।

— अज्ञात

न मे भक्तः प्रणश्यति

श्रीमत् स्वामी बुधानन्दजी महाराज, रामकृष्ण मिशन।

एक

क्या तुम भगवान् के भक्त हो ? क्या, सचमुच हो ?

तबतो तुम्हारे पास इस मनहूस दुनिया में आनन्द से रहने का एक कारण है। इस भयातुर संसार में निर्भिक होकर रहने का तुम्हारे पास एक कारण है। चिन्ता और दुःख की ज्वाला से सतत जलनेवाले इस संसार में निश्चिन्त होकर रहने का तुम्हारे पास एक कारण है। और यह एक क्षुद्र मानव-मस्तिष्क से निकला हुआ कोई छोटासा कारण नहीं है। न वह ऐसा क्षणभंगुर कारण है जो आज तो सच है पर कल मिथ्या होनेवाला है। वह तो उस परमात्मा से निकलने वाला महान् कारण है, शाश्वत कारण है जो सनातन और सत्य है। वह महान् कारण कौनसा है ? वह श्रीभगवान् के अपने मुख की उदात्त घोषणा है कि मेरे भक्त का नाश नहीं होगा। यही वह सुरक्षापत्र है, जिस पर स्वयं भगवान् ने सही की है और जो तुम्हारी अविनश्वरता की साक्ष्य देता है। यही वह कारण है जिसके आधार पर तुम इस संसार में आनन्द कर सकते हो, निर्भीक होकर विचरण कर सकते हो और निश्चिन्त रह सकते हो। और क्या तुम जानते हो कि

भगवान् ने केवल एक ही बार अपने भक्तों के नाश न होने सम्बन्धी घोषणा नहीं की है। कृष्ण के रूप में उन्होंने ऐसा किया; ईसा मसीह के रूप में किया; श्रीरामकृष्ण के रूप में किया। और भगवान् ने अपने वचनों का हर बार पूरी तरह निर्वाह किया। इसके प्रमाण हमें उपलब्ध हैं। भले विश्व चूर चूर हो सकता है, पर भगवान् के शब्द नहीं; क्योंकि विश्व के उत्पन्न होने से पूर्व वह शब्द (शब्दब्रह्म) था। वही सत्य था; और जब सारी चीजें नष्ट हो जाती हैं, तब सत्य ही बचा रहता है। भगवान् के शब्द मानवी रसना की बड़बड़ नहीं हैं बल्कि शाश्वत सत्य के स्पन्दन हैं।

दो

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने भक्त के नाश न होने के सम्बन्ध में क्या कहा है? वे गीता में, आध्यात्मिक अर्थ से भरी यह स्पष्ट घोषणा करते हैं:—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ (९।३०-३१)

—"यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भाव से मुझे भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि उसने सम्यक् निश्चय कर लिया है। वह शीघ्र धर्मात्मा बन जाता है और अक्षय शान्ति पा लेता है। कौन्तेय! यह तू सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।"

यह दैवी घोषणा श्री कृष्ण द्वारा गीता के अन्य स्थलों में भी दुहरायी गयी है। चौथे अध्याय के आठवें श्लोक में श्री भगवान् धराधाम पर अपने अवतीर्ण होने का एक कारण यह बताते हैं कि वे साधुजनों की रक्षा करना चाहते हैं। और ये साधुजन कौन हैं? भगवान् के भक्त ही।

छठे अध्याय में अर्जुन श्री कृष्ण से पूछते हैं—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ ३७-३८॥

—"हे कृष्ण! उस साधक की अन्त में क्या गति होती है जो श्रद्धा युक्त होता हुआ भी अपने आप पर संयम नहीं कर पाता और अपने चंचल मन के द्वारा योग के रास्ते से दूर चला जाता है और इस प्रकार योग की सिद्धि पाने में असफल हो जाता है? कहीं ऐसा तो नहीं होता, कृष्ण, कि वह भगवत्प्राप्ति के मार्ग में मोहित हुआ आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादलों की भाँति दोनों ओर से भ्रष्ट होकर नष्ट हो जाता हो?"

इस प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण ने जो कहा है वह प्रत्येक साधक के द्वारा, भक्त के प्रति भगवान की अनन्त वत्सलता और करुणा के प्रमाण के रूप में संरक्षणीय है।

श्री भगवान् उत्तर में कहते हैं—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति॥ ४०॥

—"हे पार्थ ! निश्चयपूर्वक जानो, उसका कहीं विनाश नहीं है— न इस लोक में, न परलोक में। तात ! शुभ कर्म करने वाला पुरुष कभी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता।"

भला इतना पवित्र कौन है जिसके मन में कभी कोई अपवित्र विचार नहीं आता ? रास्ते में भला कौन ठोकर नहीं खाता ? फिसलन में किसके पैर भला नहीं फिसलते ? क्या इसीलिए कि हम एक या दो या तीन बार फिसल गये, हमारा सब कुछ नष्ट हो गया ? आध्यात्मिक जीवन तो सतत संघर्ष है, अपनी निम्न प्रकृति को दबाकर अपनी उच्च प्रकृति को उस पर नित्य रूप से हावी कर देने के लिए अविराम संघर्ष है। इस संघर्ष में हो सकता है कभी-कभार ऐसा लगे कि युद्ध में शत्रु बाजी मार ले गये, पर अन्त में भक्त की विजय सुनिश्चित है; क्योंकि श्रीभगवान् स्वयं उसके बन्धु हैं।

ईश्वर कठोर नहीं हैं, वे तो अपार करुणासिन्धु हैं। वे जानते हैं कि नर-नारी को भुला देनेवाली उनकी माया कितनी भीषण है। इसलिए वे मनुष्य पर कठोर नहीं हैं। वह तो समाज है जो अपने को सुरक्षित रखने के लिए पापी को कुचल डालता है, पर वह तारणहार विभ्रमित आत्मा को देखकर करुणा से विगलित हो जाता है और उसे बचा लेता है।

भक्त के प्रति भगवान् की वत्सलता इतनी अविचल है कि भक्त के गिर जाने पर भी भगवान् उसे 'कल्याणकृत्' ही कहते हैं, 'अकल्याणकृत्' नहीं।

हम लोग साधक हैं। अतः समय समय पर गलतियाँ कर बैठना स्वाभाविक है। कभी-कभार हम मन के गलत चक्कर में भी पड़ जाया करते हैं। ऐसी परिस्थितियां में हम यह न सोचें कि खेल खत्म हो गया बल्कि ऐसा विचार करें कि वह केवल एक पहलू है। प्रभु तो सतत जागरूक हैं, सहायता देने और रक्षा करने के लिए सदैव प्रस्तुत हैं। यदि हममें निष्ठा और लगन है, यदि हम आध्यात्मिक जीवन के प्रति अपने उत्साह को बनाये रखते हैं, तो भगवत्कृपा से हम इस भूल की पकड़ से अपने आपको बचा लेंगे और बढ़ी हुई शक्ति और दृढ़तर निश्चय के साथ उसमें से बच निकलेंगे।

एक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि पाप उस त्राणकर्ता भगवान् का एक कूटकौशल है। पर ऐसा सोचकर हमें पाप नहीं कर बैठना चाहिए! कभी यह सम्भव है कि विशेष परिस्थिति में जहर दवाई का काम दे दे, पर यदि तुम जान-बूझकर जहर खा लो, तो मृत्यु ही तुम्हारी गति होगी। गीता के नौवें अध्याय में श्रीभगवान् स्वयं को भक्त का योगक्षेमकर्ता बताते हुए कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

—"जो मेरी उपासना करते हैं, अनन्यभाव से मुझे भजते हैं और नित्य मुझसे इस प्रकार युक्त हैं, उनके अभाव की पूर्ति और उन्हें जो प्राप्त है उसका संरक्षण मैं स्वयं करता

हूँ।" भक्तों के जीवन में इन शब्दों की सत्यता बारम्बार प्रमाणित हुई है।

पुनः, बारहवें अध्याय में हमें श्रीभगवान् की मर्मस्पर्शी घोषणा मिलती है; वहाँ वे अपने भक्तों की इस मृत्युसंकुल संसारसागर से रक्षा करने के लिए विशेष चिन्तित जान पड़ते हैं :—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ६-७

—"हे पार्थ! जो भक्त अपने समस्त कर्मों को मुझे अर्पित करते हुए, मेरे परायण होकर, अनन्य भाव से मेरा ध्यान करते हुए मुझे भजते हैं, उन मुझमें इस प्रकार चित्त लगे हुए भक्तों का, मैं इस मृत्युरूपी संसारसागर से शीघ्र ही उद्धार करनेवाला होता हूँ।" वे स्पष्ट कहते हैं; उनके शब्दों पर गौर कीजिए — "मैं उनके लिए इस मृत्यरूपी संसारसागर से उद्धार करनेवाला होता हूँ।" वह भी किस प्रकार ?— 'नचिरात्', बिना किसी देरी के अर्थात् शीघ्र ही।

पर श्रीभगवान् मानो इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हैं। वे माता की-सी आतुरता से एक-एक सीढ़ी उतरकर हमारे पास चले आते हैं जहाँ हम भक्ति की नसेनी में खड़े होते हैं और आकर दृढ़तापूर्वक हमारा हाथ पकड़ लेते हैं। हमारे माँगने से पहले ही, हमारी सामर्थ्य को देखते हुए हमें वे साधन प्रदान करते हैं। उनकी एकमात्र चिन्ता यही

रहती है कि उनका भक्त नष्ट न हो। कैसी मर्मस्पर्शी कोमलता है उनकी ! हमारी मनःस्थिति का पूरा ज्ञान है उन्हें। तभी तो वे कहते हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ १२।८

— "केवल मुझी में अपने मन को लगा, अपनी बुद्धि को केवल मुझी में निविष्ट कर; तू इसके उपरान्त मुझमें ही निवास करेगा। इसमें कुछ भी संशय नहीं है।"

इतने में श्रीभगवान् के मन में एक दूसरा विचार आता है — मान लो, भक्त निरन्तर एकाग्रता का कठोर रास्ता न अपना सके, तो क्या वह नष्ट हो जायगा ? यह विचार श्रीभगवान् को बेचैन बना देता है और वे तुरत एक दूसरा सुझाव रखते हैं—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ १२।९

—"यदि तू अपने चित्त को मुझमें सतत रूप से लगाने में असमर्थ होवे, तो हे धनंजय ! तू मुझे निरन्तर अभ्यास रूपी योग से पाने की कोशिश कर।"

इस पर एक तीसरा विचार श्रीभगवान् के मस्तिष्क में कौंधता है। यदि भक्त इस निरन्तर अभ्यास रूपी योग की भी साधना न कर सके तो ?—जैसा कि बहुधा हम भी नहीं कर पाते ! तो क्या इसी कारण हमारा नाश हो जायगा ? श्रीभगवान् मानो इस विचार मात्र से काँप जाते हैं और करुणाभिभूत हो तुरन्त कहते हैं—

अभ्यासेऽपि असमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १२।१०

—"यदि तू इस प्रकार अभ्यास करने में असमर्थ है, तो अपने आपको मेरी सेवा में लगा दे। क्योंकि इस प्रकार मेरे सेवार्थ कर्म करता हुआ भी तू सिद्धि को प्राप्त होगा"

किन्तु श्री भगवान् को उससे भी सन्तोष न हुआ। यह सोचकर कि ऐसे भी भक्त बहुतेरे हैं जो इस सामान्य ऊँचाई पर भी नहीं चढ़ सकते, वे और भी नीचे झुकते हैं; जो सबसे नीचे खड़े हैं उन तक पहुँचने के लिए वे करुणा-वश और भी नीचे उतरते हैं और कहते हैं—

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥१२।११

—"यदि तू यह भी करने में असमर्थ है तो अपने आप पर संयम कर, समस्त कर्मफल का त्याग कर दे और मेरी शरण आ जा।"

क्या भगवान् अपनी करुणा में इससे भी आगे जा सकते थे? विश्वास करो या न करो, वे तो गये। अठारहवें अध्याय में अर्जुन को वे अपना पूरा प्रवचन सुनाने के बाद कहते हैं—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १८।६३

—"इस प्रकार यह गोपनीय से भी अति गोपनीय ज्ञान तुझे मेरे द्वारा दिया गया। अब इस पर तू अच्छी तरह मनन कर और जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर।"

इन शब्दों से गीता की समाप्ति हो सकती थी; पर नहीं हुई। श्रीभगवान् कोरे भावहीन दार्शनिक नहीं हैं, वे तो रक्त-मांस वाले उद्धारकर्ता हैं; अतः वे पुनः करुणा से विगलित हो जाते हैं। जो कुछ दिया उससे उन्हें सन्तोष नहीं; वे अपना सब कुछ भक्त को दे देना चाहते हैं। भक्त के और भी समीप जाकर वे अपने स्वर में गहरे ममत्व का स्पर्श भरकर कहते हैं —

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥१८।६४-६५

—"पुनः तू मेरे इस परम गोपनीय, रहस्ययुक्त वचन को सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इसलिए तेरे हित की बात कहता हूँ।

"अपना मन मुझमें लगा दे; अपना प्रेम मेरे प्रति उड़ेल दे; मेरी पूजा कर; मुझे नमस्कार कर। तू मुझे ही प्राप्त होगा। यह मेरी प्रतिज्ञा है, क्योंकि तू मेरा प्रिय सखा है!"

अहा! कैसे अद्भुत उद्‌गार हैं! और ये क्या केवल शब्द हैं? ये तो श्रीभगवान् के हृदय का रक्त हैं। प्रभु कहते हैं, "अपना प्रेम मेरे प्रति उड़ेल दे।" वे तो अक्षरशः तुम्हारे प्रेम की याचना कर रहे हैं। क्यों? तुम्हारे ही लिए, तुम्हारी मुक्ति के लिए। फिर वे कहते हैं, "मुझे नमस्कार कर!" यदि तुम उन्हें नमस्कार करो या न करो, तो इससे उन

जगन्नियन्ता का क्या बनता-बिगड़ता है? वे तो तुम्हें शाश्वत सुरक्षा का सबसे सहज-सरल रास्ता दिखाना चाहते हैं, इसीलिए मानो निर्लज्ज-से बनकर कहते हैं, "माँ नमस्कुरु"। सोचो, उनके हृदय में कैसी टीस होगी !

श्रीप्रभु को अपना हृदय, अपना प्रेम, अपनी पूजा देकर तुम उन अविनाशी से युक्त हो जाते हो। यही तुम्हारी रक्षा है, तुम्हारी मुक्ति है।

पर इस सबसे भी श्रीभगवान् को सन्तोष नहीं होता। भक्त की रक्षा की उनकी चिन्ता इतनी रहती है! वे अब चरम छोर तक उतर जाते हैं और अपनी उदात्त घोषणा करते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ १८।६६

—"सर्व धर्मों को तजकर एकमात्र मेरी शरण में आ जा। मैं तुझे सारे पापों से मुक्त कर दूँगा। शोक मत कर।"

कहाँ आश्रय ढूँढ़ते हो ? क्या नीचे ? याद रखो, वह तुम्हारा आश्रय नहीं है; वह तो तुम्हारी कब्र है — तुम्हारे अपने हाथों खोदी गयी कब्र। भक्त का एकमेव आश्रय है श्रीभगवान्। यहाँ कोई शत्रु प्रवेश नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त जिसे भी अपना आश्रय मानकर ग्रहण करो, वही तुम्हारी कब्र होगी; क्योंकि ऐसा करके तुम अपने को श्रीभगवान् की छत्रछाया से दूर ले जाते हो और इस प्रकार शत्रु के चंगुल में फँस जाते हो।

जब श्रीभगवान् ने तुम्हें अविनश्वर बनाने के लिए ऐसी विस्तृत योजना प्रदान की है तब फिर भला तुम क्षीण और

नष्ट होने के लिए क्यों इतनी यातनाएँ सहते हो? यदि श्रीभगवान् ने प्रत्येक भक्त की मुक्ति के लिए व्यवस्था न कर दी होती, तो वे कभी भी अर्जुन से निश्चयात्मक स्वर से ऐसा न कह सकते थे, न कहते कि "कौन्तेयप्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।"

तीन

श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "ईश्वर के अवतार एक और अभिन्न हैं। जीवन-सागर में डुबकी लगाकर वही एक ईश्वर एक जगह निकलकर कृष्ण कहलाता है और फिर से डुबकी लगा कर, दूसरी जगह निकलकर वही क्राइस्ट कहलाता है।"

इससे हम यह बात समझ सकते हैं कि कैसे ये अवतार यद्यपि युगों के अन्तर से प्रकट होते हैं तथापि एक ही प्रकार की बात कहते हैं। हमने कुछ विस्तार में भक्त के नाश न होने सम्बन्धी भगवान् श्रीकृष्ण की उक्तियों पर विचार किया है। अब संक्षेप में हम इसका विचार करेंगे कि उन्होंने दूसरी जगह क्राइस्ट के रूप में निकलकर क्या कहा। सन्त योहन की पुस्तक के दसवें अध्याय में ईसा मसीह कहते हैं, "···मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, मैं भेड़ों का दरवाजा हूँ····मैं दरवाजा हूँ; यदि मुझसे होकर कोई मनुष्य प्रवेश करे, तो उसकी रक्षा होगी और वह अन्दर और बाहर जायगा, और चरागाह को पा लेगा ···। मैं अच्छा गड़ेरिया हूँ; अच्छा गड़ेरिया भेड़ों के लिए अपना जीवन दे देता है ···। मैं अच्छा गड़ेरिया हूँ और अपनी भेड़ों को जानता हूँ और अपनों द्वारा जाना गया हूँ ··· ···।

"मेरी भेड़ें मेरी आवाज सुनती हैं, और मैं उनको जानता हूँ, और वे मेरे पीछे पीछे आती हैं। और मैं उनको शाश्वत जीवन प्रदान करता हूँ; और वे कभी नष्ट न होंगी, और न कोई मनुष्य उन्हें मेरे हाथ से छुड़ा सकता है। मेरा पिता, जिसने उनको मेरे हाथों सौंपा, सबसे महान है; और कोई भी मनुष्य उनको मेरे पिता के हाथों से छुड़ाने में असमर्थ है। मैं और मेरे पिता एक हैं।"

पुनः उसी पुस्तक के छठे अध्याय में हम क्राइस्ट को घोषणा करते सुनते हैं — "कोई मनुष्य मेरे पास तब तक नहीं आ सकता जब तक मेरा पिता, जिसने मुझे भेजा है, उसे न खींचे, और मैं उसे अन्तिम दिन ऊपर उठा लूँगा •••। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, जो मुझमें विश्वास रखता है उसे अनन्त जीवन मिलता है। मैं जीवन की वह रोटी हूँ ••• जो स्वर्ग से नीचे आती है जिससे कि मनुष्य उसे खाये और अमर बन जाये।"

क्राइस्ट ने सूली में झूलकर अपनी जिस प्रकार चरम आहुति दे दी, उससे किसी को भी यह विश्वास बिना हुए न रहेगा कि धरती पर उतरा यह ईश्वर का पुत्र अपने भक्तों के त्राण के लिए कितनी दूर तक आत्मोत्सर्ग करने के लिए तैयार था।

चार

पुनः जीवनसागर के एक तीसरे बिन्दुपर निकलकर वही भगवान्, श्रीरामकृष्ण के रूप में, यह उदात्त घोषणा करते हैं—"ईश्वर के भक्तों को कोई डर नहीं। वे तो श्रीभगवान् के अपने हैं। श्रीभगवान् सदैव अपने भक्तों की रक्षा करते हैं।

एक समय एक शिष्य ने श्री माँ सारदा देवी से कहा, "कल मेरे मन में एक विचार आया कि जब तक भगवान् का वरदहस्त मुझ पर न हो तब तक मैं कैसे मन के साथ जूझ सकता हूँ? एक कामना के अस्त होते न होते झट दूसरी कामना मेरे मन में उठ जाती है।" श्रीमाँ ने सान्त्वना देते हुए कहा, "देखो बेटा, जब तक अहंभाव रहता है, तब तक कामनाओं का उठना स्वाभाविक है; पर ये कामनाएँ तुम्हें क्षति न पहुँचायेंगी; श्री ठाकुर* तुम्हारी रक्षा करेंगे।"

कुछ क्षण बाद, भक्तों का पक्ष लेते हुए, श्री माँ उच्छ्वसित कण्ठ से बोलीं, "देखो जिन लोगों ने ठाकुर के चरणों में शरण ली है, जिन्होंने सब कुछ तजकर आदर्श जीवन बिताने के लिए एकमात्र उनका आश्रय लिया है, यदि उनकी रक्षा ठाकुर न करें तो उनके लिए वह एक जघन्य पाप होगा। सब कुछ उन्हीं पर छोड़ दो। यदि उनकी इच्छा हो तो तुम्हारा भला करें, या यदि तुम्हें डुबा देने की उनकी इच्छा हो तो वैसा करें। पर तुम्हें केवल वही करना चाहिए जो धर्मसम्मत हो, और उतना जितनी उन्होंने तुम्हें सामर्थ्य दी है।"

(अगले अंक में समाप्य)

—'वेदान्त फार ईस्ट एंड वेस्ट' से साभार।

* श्रीरामकृष्ण।

अविस्मरणीय !

घटना सन् १९२४-२६ के बीच की है। तब मैं बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में एम० ए० का छात्र था और मेरे अनुज (जो आजकल जबलपुर हाईकोर्ट में आडिट सुपरिंटेंडेंट हैं) एफ० एससी०, गणित के साथ, कर रहे थे। एक दिन गणित की कक्षा में मालवीयजी एकाएक पहुँचे और पीछे के विद्यार्थियों को डेस्कों पर बैठे देखकर बड़े क्रुद्ध हुए। उन्होंने इन अनुशासन हीन विद्यार्थियों पर दस दस रुपये आर्थिक दण्ड की आज्ञा दे दी और कक्षा से बाहर निकल गये। सब के सब स्तब्ध रह गये, पर मेरे अनुज ने प्राचार्य से अनुमति लेकर मालवीय जी का पीछा किया और उनका दुपट्टा पकड़कर उनसे विनय-पूर्वक अनुरोध किया कि वे कक्षा में पुनः प्रवेश करें। इस दुस्साहसपूर्ण नम्र निवेदन पर चकित होकर माल-वीयजी पुनः पधारे। तब मेरे भाई ने उनसे प्रार्थना की कि वे आखिरी कतार की एक कुर्सी पर बैठने की कृपा करें। मंत्रमुग्ध की नाईं मालवीयजी आसन पर विराजमान हो गये और मेरे भाई से कहा,'अब आपकी दूसरी आज्ञा क्या है ?' भाई ने विनती की, 'काले तख्ते पर प्राचार्य महोदय ने जो गणित बनाया है उसे पढ़िये।' फलक इतना नीचे था कि मालवीय जी कुछ भी नहीं देख सके। उन्होंने तुरन्त जुर्माने की माफी का हुक्म दिया और ऐसे फलक बनवा दिये जिन पर गणित बनाकर उन्हें ऊपर उठा दिया जा सके जिससे पीछे बैठनेवालों को सुविधा हो।

—डा० के० एल० वर्मा, रायपुर।

मानव जीवन का चरम लक्ष्य

प्रो० हरबंश लाल चौरसिया, दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर।

अस्तित्ववादी दार्शनिक आज के मनुष्य की स्थिति का स्पष्टीकरण चिन्ता, भय, नैराश्य, संकल्प हीनता, अकेलापन आदि धारणाओं द्वारा करते हैं। यास्पर्स के शब्दों में, वह "मशीन का वह पुर्जा होता है जिसके निराले अस्तित्व का कोई महत्त्व नहीं होता और जिसे कभी भी वैसे ही दूसरे पुर्जे से बदला जा सकता है।" वर्तमान में मनुष्य की गंभीर बेचैनी तथा असंतोष के मूल में ऐसे जीवन-आदर्शों का अभाव है जिनका समसामयिक दर्शन-पद्धतियों द्वारा विश्वास पूर्वक मंडन हो सके और जिनका महान् व्यक्ति अनुसरण करें। ऐसे आदर्शों के अभाव में जीवन निरर्थक और दिशाहीन हो जाता है। किसी विद्वान् का यह कथन उचित ही है कि आत्मिक ऊब आज के मनुष्य की केन्द्रगत बीमारी है। हमारे युग का मनुष्य ऐसे आदर्शों एवं मार्ग को अपनाने में व्यस्त रहता है जो उसे शरीरोपासना एवं भौतिकता के प्रति आसक्तिमय बना देता है। इस यांत्रिक सभ्यता या जल्दबाजी की सभ्यता के युग में वास्तविक शांति एवं आनंद की उपलब्धि के लिये मनुष्य को उस जीवन-विवेक की आवश्यकता होती है जो विभिन्न लक्ष्यों का तुलनात्मक ढंग से मूल्य आकलन कर सके। जब तक मनुष्यों में ऐसे विवेक का आविर्भाव

नहीं होता तब तक वे उन साधनों तथा उन सामग्रियों का उचित उपयोग नहीं कर सकेंगे जो विज्ञान ने हमारे लिये सुलभ कर दी हैं।

अतएव एक विचारशील प्राणी होने के नाते मनुष्य उन सिद्धान्तों का परिचय चाहता है जिनके अनुसरण से वह अपने जीवन को सार्थक बना सके। मनुष्य की नैतिक तथा धार्मिक खोज अंतिम विश्लेषण में जीवन-विवेक की खोज है। नीति-शास्त्र के इतिहास में चरम लक्ष्य या परम श्रेयस् के संबंध में अनेक धारणाऐं मिलती हैं। इस दिशा में कुछ प्रमुख सिद्धान्तों को समझने का प्रयास समयोचित होगा।

इस परिप्रेक्ष्य में हम सर्वप्रथम सुखवादी सिद्धान्त पर ही विचार करें। सुखवादी सिद्धान्त के अनुसार सुख ही हमारे प्रत्येक ऐच्छिक कर्म का विषय है। प्रत्येक मनुष्य अधिक से अधिक सुख जीवन में प्राप्त करना चाहता है और दुख से बचना चाहता है। अतः नैतिक दृष्टि से शुभकर्म वे हैं जो हमें सुख प्राप्ति में सहायक होते हैं और उन कर्मों को अशुभ माना जायगा जिनके संपादन से दुख प्राप्त होता है। सुखवादी बिचारक सुख को एक विशेष प्रकार की अनुभूति मानते हैं। अतः उनके अनुसार विभिन्न प्रकार के सुखों की संवेदनाओं को उसी प्रकार मापा जा सकता है जिस प्रकार हम किसी भौतिक पदार्थ को माप लेते हैं।

सुखवाद के इतिहास का परिशीलन करने से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में इसके समर्थकों ने व्यक्तिगत

सुखों को ही जीवन का आदर्श माना। यूनान के सुखवादी दार्शनिक अरिस्टिपस (४३५-३५० ई० पू०) ने, जो कि स्वार्थ निष्ठ सुखवाद में विश्वास रखता था, सुख को मापने के दो आयाम बतलाये — इसकी तीव्रता एवं वर्तमान कालिकता। इपीक्यूरस नामक विद्वान (३४१-२७० ई०पू०) ने उपरोक्त मत को अधिक संस्कृत और परिष्कृत किया तथा सुख की तीव्रता और वर्तमान कालिकता की अपेक्षा इस बात पर जोर दिया कि सुखों में स्थिरता, चिरकालिकता तथा दुःख हीनता होना आवश्यक है।

भारत में भी प्राचीन काल में सुखवाद के समर्थक हुए हैं। छान्दोग्य उपनिषद के इन्द्र-विरोचन उपाख्यान में विरोचन सुखवादी है। चार्वाक या लोकायत संप्रदाय विशुद्ध रूप से सुखवाद का प्रचारक था। चार्वाकों का निम्न कथन स्वार्थ-परक सुखवाद की स्पष्ट झाँकी प्रस्तुत करता है —

यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणंकृत्वा घृतं पिबेत्
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

वर्तमान काल के सुखवाद के प्रवर्तकों में बेन्थम और मिल नामक विद्वानों का प्रमुख स्थान है। इन्हों ने अपनी सुखवाद की धारणा को उपयोगितावाद का नाम दिया तथा स्वार्थ-परक सुखवाद के स्थान पर परार्थ-मूलक सुखवाद का प्रचार किया। उपयोगितावाद का लक्ष्य किसी एक व्यक्ति का सुख न होकर अधिक से अधिक लोगों का सुख है। इसलिये इसे सार्वभौम सुखवाद कहा जाता है।

तात्पर्य यह कि वर्तमान काल में उपयोगितावाद के अनुसार हमारे जीवन का चरम लक्ष्य निरंतर अधिक से अधिक सुखों की प्राप्ति है किन्तु यह सुख केवल कर्त्ता का स्वयं का न होकर अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख होना चाहिये। हमारे सभी कर्मो का करना या न करना नैतिक दृष्टि से इस माप पर आधारित है कि वह एक मनुष्य का नहीं वरन् संपूर्ण मानवजाति का भौतिक सुख बन सकता है या नहीं। हमें ऐसे सभी कर्मों को नैतिक दृष्टि से उचित मानना चाहिये जो अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख की फलेच्छा से संपन्न किये जाते हैं।

बेन्थम ने विभिन्न सुखों में केवल मात्रा का अंतर माना, गुणात्मक भिन्नता नहीं। यदि दो सुख समान मात्रा के हों तो उनका मूल्य भी समान होगा। उसने कहा कि भोजन उतना ही अच्छा है जितना कि काव्य, यदि दोनों से सुख समान मिलता हो। सभी सुखों में केवल पारिमाणिक भिन्नता का समर्थन करना अत्यन्त हास्यास्पद प्रतीत होता है। इसलिये बेन्थम की तीव्र आलोचना हुई और कार्लाइल ने तो उसके विचार को शूकर-दर्शन (Pig philosophy) तक कह दिया। मिल के सामने एक समस्या थी कि साधारण मनुष्य भी सुखों में उत्तम और अधम के भेद को मानता है। कबीर का यह कथन – 'जो सुख पायो रामभजन में सो सुख नाहिं अमीरी में'— यही तथ्य प्रकट करता है कि भजन-सुख भोजन-सुख या भोगविलास के सुख से आमूल भिन्न है किन्तु सुखवाद के तार्किक निरूपण के लिये सुखों

में गुणात्मक अंतर मानना असंगत है। मिल ने असंगत होना स्वीकार किया किन्तु सामान्य मनुष्य की नैतिक अनुभूति का निरादर नहीं किया। वेन्थम और मिल के युग में कदाचित् सुखवादी विचारधारा की जीवन-आदर्श के रूप में आवश्यकता थी। "अधिक मनुष्यों का अधिक सुख" यह एक ऐसा आदर्श या सिद्धान्त था कि जिसके आधार पर राज्य अपने नियंत्रण द्वारा श्रम जीवियों के जीवन की स्थिति में सुधार कर सकता था। नीतिशास्त्र के पंडितों ने इसी दृष्टि से उपयोगितावाद के सिद्धान्त को जनता और विधिविधान के निर्माताओं के समक्ष रखा।

यदि सुखवाद के 'प्रमाण' ठीक होते तो नैतिक खोज को बढ़ाना व्यर्थ होता। यदि प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों का संचालन सुखवादी आदर्श से ही होता तो अन्य सिद्धान्तों या विचारधाराओं का विवेचन अनावश्यक ही सिद्ध होता पर यथार्थ बात यह नहीं है। जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में सुख को मानने से हमारे समक्ष अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं जिनका उचित रूप में समाधान सुखवादी विचारधारा नहीं कर पाती है।

प्रसिद्ध विचारक ब्रेडले के अनुसार सुखों का जोड़ असंभव है, अतः "अधिक मनुष्यों का अधिक सुख"— उपयोगितावाद का यह कथन जटिल समस्या प्रस्तुत करता है। सुख व्यक्तिगत अनुभूति या भाव है अतः उसका जोड़ वस्तुओं की भाँति करना कदापि संभव नहीं है। टी० एच० ग्रीन के अनुसार अधिकतम सुख कभी भी पूर्णतम सुख

नहीं है और जीवन का चरम लक्ष्य पूर्णतम सुख ही हो सकता है। इसके साथ ही साथ उपयोगितावादियों का यह प्रमाण भी पूर्णतया भ्रामक है कि चूँकि प्रत्येक व्यक्ति अपना सुख चाहता है इसलिये सारा समाज सारे समाज का सुख चाहता है। वास्तविक प्रश्न यह है कि व्यक्ति अपने सुख के अतिरिक्त सामान्य सुख को क्यों चाहे ? इसके लिये यह तर्क देना निरर्थक होगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपना सुख चाहता है इसलिये सब व्यक्ति सबका सुख चाहते हैं। जिस बात को मनुष्य स्वभावतः करते हैं, उसमें कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य के विचार का स्थान ही नहीं रहता। कर्त्तव्य के विचार की महत्ता मनुष्य को अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को रोकने में हैं। अतः यदि यह मत सच है कि सभी मनुष्य सुख की इच्छा से प्रेरित होकर ही सब काय करते हैं तो इससे यह कदापि अर्थ नहीं निकलता कि उन्हें सुखके लिये ही आचरण करना चाहिये। मनुष्य क्या करता है, इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि उसे क्या करना चाहिये। "है" से "चाहिये" का निष्कर्ष निकालना अमेरिका के विद्वान् व्हील राइट के अनुसार एक प्रकार का नैतिक हेत्वाभास है।

सुखप्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य मानने से एक कठिनाई हमारे समक्ष उपस्थित होती है कि हमारे सभी कर्मों का निर्णायक सुख हो तथा सुख का स्वरूप भी सबके लिये समान हो अर्थात् इस सिद्धान्त में तार्किक संगति रखने के लिये यह आवश्यक है कि हम सुखों में केवल

मात्रागत अंतर ही मानें और गुणात्मक भेद स्वीकार न करें। बेन्थम ने यही किया। पर सुखों में गुणात्मक भेद की उपस्थिति अनुभव सिद्ध है और साधारण व्यक्ति भी इसे मानता है। अतः बेन्थम की त्रुटि को मिल ने सुधारा और सुखों में गुणात्मक भेद मान लिये। किन्तु मिल इस कारण एक विरोधाभास में पड़ गया। यदि सुखों में उच्च और निम्न वर्ग का अंतर है तो जिसकी सहायता से हम विभिन्न सुखों में वर्गगत भिन्नता मानते हैं वह तत्त्व ही हमारे लिये लक्ष्य बन जायगा सुख नहीं। स्थिति कुछ इस प्रकार रही कि जैसे मिल ने किसी स्थान की दूरी को मीलों में बताया हो और बाद में कह दिया हो कि सब मीलों की लम्बाई या माप एक सा नहीं होता है। अतएव सुखों में गुण-भेद मानना सुखवाद के लिये घातक सिद्ध होता है।

अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "गीता रहस्य" में स्वतंत्रता संग्राम के अगर सेनानी तिलक ने उपयोगितावाद के उपर्युक्त दोष की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि प्रत्येक कर्म के नैतिक औचित्य का माप-सुख-वास्तव में एक बाह्य माप है। नैतिकता के क्षेत्र में केवल संख्या और भौतिक सुख एवं समृद्धि को ही जीवन के लक्ष्य-निर्धारण में प्रधानता देना अनुचित है। सुखवाद और उपयोगितावाद अपर्याप्त होते हुए भी व्यर्थ नहीं हैं। उपयोगितावादी विचारकों ने नीति के क्षेत्र में स्वार्थ और परार्थ के संघर्ष संबंधी प्रश्न पर नवीन ढंग से विचार करते हुए उनमें सुख-भावना,

सहानुभूति-भावना और परोपकार की वृत्ति के माध्यम से समन्वय करने की चेष्टा की। इसलिये सुखवाद संपूर्ण रूप में गलत न होकर एकांगी माना जा सकता है। सुखवादी एकांगी इसलिये है क्योंकि वह मानव-जीवन के श्रेय को मात्र मानव-भावना का श्रेय मानता है।

वास्तव में सुख और दुख दोनों ही जीवन के तारतम्य में अपना स्थान रखते हैं और उसे अधिक रोचक और सरस बनाने में सहायक होते हैं। जीवन के लक्ष्य को साधारण मनुष्य की भाषा में हम "पूर्ण सुख" कह सकते हैं पर इसकी जैसी व्याख्या सुखवादियों ने की है, वह अनेक दोषों से परिपूर्ण है, अतः हमें अमान्य है। इस प्रसंग में अर्बन (urban) का यह कथन ठीक प्रतीत होता है कि हमारे लक्ष्य ही हमारे "सुख" हैं न कि हमारे "सुख के साधन"।

सत्पुरुषों को पहले चित्त में और बाद में शरीर में बुढ़ापा आता है। असत्पुरुषों को शरीर में ही बुढ़ापा आता है, चित्त में कभी नहीं।

— पंचतंत्र

अमेरिका में वेदान्त

यद्यपि संयुक्तराष्ट्र प्रमुखतः एक ईसाई देश है, तथापि अन्य धर्मों के अनुयायी वहाँ सर्वत्र पाये जाते हैं। इनमें वे भी हैं जो हिन्दू वेदान्त दर्शन के मानने वाले हैं। भले ही इन हिन्दू मतानुयायियों की संख्या अधिक नहीं है फिर भी वहाँ उनके दस केन्द्र हैं तथा एक मठ और एक विहार (स्त्री-मठ) है। इनकी सदस्य संख्या लगभग पन्द्रह सौ है।

ये केन्द्र रामकृष्ण संघ के संन्यासियों के द्वारा संचालित हो रहे हैं। अमेरिका के संयुक्त राज्यों में प्रामाणिक हिन्दू परंपरा के एकमात्र ये ही संघबद्ध संन्यासी हैं। ये धर्मप्रचारक नहीं हैं, वरन् आमंत्रित शिक्षक हैं। कुछ अमेरिकावासियों की ऐसी इच्छा थी कि हिन्दू दर्शन की शिक्षा प्राप्त करने के लिए कुछ केन्द्र वहाँ स्थापित किये जायँ। उन्हीं के आमंत्रण पर ये संन्यासी गण आये हैं।

अन्य धर्मों के प्रति श्रद्धा हिन्दू धर्म की मौलिक बात है और वह इन संन्यासियों की शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग है। श्रीरामकृष्णदेव, जिन पर से इस संघ का नामकरण हुआ है, 'सर्व-धर्म-समन्वय के मसीहा' माने जाते हैं।

यह रामकृष्ण-संन्यासी-संघ सन् १८८६ में श्रीरामकृष्ण के देहावसान के अल्प समय बाद ही कलकत्ते के पास

वराहनगर में उनके संन्यासी शिष्यों द्वारा स्वामी विवेकानन्द के नेतृत्व में स्थापित हुआ था ।

सन् १८९३ में शिकागो की विश्व-कोलंबियन-प्रदर्शनी में होने वाले सर्व-धर्म-महासम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि होकर आये। उन्होंने अमेरिका के संयुक्त राज्यों में व्याख्यान देते और लेख प्रकाशित करते हुए तीन वर्ष व्यतीत किए। सन् १८९६ ई० में भारतवर्ष लौटने के कुछ ही पूर्व उन्होंने न्यूयार्क शहर में अमेरिका को सर्वप्रथम वेदान्त समिति स्थापित की ।

वहाँ की दूसरी वेदान्त समिति भी स्वामी विवेकानन्द के द्वारा १९०० ईस्वी में सैनफ्रान्सिस्को में स्थापित हुई। एक के बाद एक, और भी समितियाँ स्थापित होती गईं और इस प्रकार अब वहाँ दस केन्द्र हैं— चार पूर्वी तट पर अर्थात् बोस्टन और प्रॉविडेन्स में एक-एक तथा न्यूयार्क में दो; मध्य-पश्चिम में दो अर्थात् एक शिकागो में तथा दूसरा सेंटलुई में; पश्चिम तट पर चार अर्थात् लासएंजलिस, सैनफ्रान्सिस्को, पोर्टलैंड और सिएटल में। इसके अतिरिक्त कैलिफोर्निया के ट्राब्युको केनियन में एक मठ और सान्टा-बारबरा में एक विहार (स्त्री-मठ) है।

इनमें से अनेक वेदान्त समितियों के विश्राम-स्थलियाँ भी हैं। इनमें सैन-एण्टानी वैलो का शान्ति आश्रम सबसे प्राचीन है। यह आश्रम स्वामी विवेकानन्द को १९०० ई० में दान मिला था। कैलिफोर्निया समितियों के पास भी दो विश्रामस्थलियाँ हैं—मैरिन काउन्टी की ओलेमा

विश्रामस्थली एवं लेक टाहो की विश्रामस्थली। ओरेगन पोर्टलैंड का रामकृष्ण आश्रम एक सौ बीस एकड़ के विस्तृत क्षेत्र में बसा है। इसमें अनेक प्रासाद हैं तथा कोलंबिया नदी की उपत्यका के ऊपर एक मंदिर है। एटलांटिक महासागर के तट पर मार्शफील्ड में सारदा आश्रम स्थापित है जिसकी सेवाएँ बोस्टन एवं प्रॉविडेन्स दोनों केन्द्रों को प्राप्त होती हैं। न्यूयार्क का रामकृष्ण-विवेकानन्द केन्द्र न्यूयार्क स्टेट में अवस्थित सहस्रद्वीपोद्यान (थाउजण्ड आईलैंड पार्क) के विवेकानन्द कुटीर का संचालन करता है।

प्रारम्भ

विदेशों में रामकृष्ण संघ के कार्य स्वामी विवेकानन्द के भारतवर्ष लौटने के शीघ्र ही पश्चात् प्रारंभ हुए। इसी समय उन्होंने रामकृष्ण मिशन की नींव डाली। तदनन्तर शीघ्र ही मठ वराहनगर से बेलुड़ स्थानान्तरित हुआ और उसी समय मिशन को भी मठ के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया गया। अब मठ के कार्य का विस्तार भारतवर्ष एवं विदेशों में होने लगा।

वेदान्त का तत्त्वज्ञान हिन्दू धर्म का अति उदात्त, परिष्कृत और बौद्धिक रूप है। इस कारण भारतवर्ष के बाहर उसके प्रति मुख्यतः बुद्धिप्रधान व्यक्तियों का आकर्षण हुआ है। इन्हीं के माध्यम से श्री रामकृष्ण एवं रामकृष्ण संघ के उपदेशों का प्रचार-प्रसार हुआ है।

ब्रिटेन के उपन्यासकार एवं दार्शनिक जेराल्ड हर्ड वेदान्त के अनुयायी हो गए और ट्राब्युको केनियन के मठ की स्थापना में कारणीभूत हुए। हर्ड से परिचय प्राप्त कर क्राइस्टॉफर ईशरवुड,आल्डस हक्सले और जॉन व्हान ड्रूटेन की रुचि वेदान्त में जागृत हुई और ये दक्षिणी कैलिफोर्निया के हालिवुड केन्द्र में दीक्षित होकर रहने लगे। डबल्यू० बी० ईट्स, टैनेसी विलियम्स और टॉम सुग्र भी अन्य लेखकों और नाट्यकारों में से हैं जो इस ओर आकर्षित हुए हैं। इसी प्रकार के एक लेखक सामरसेट मॉम हैं जिन्होंने अपनी पुस्तक 'रेजर्स एज' में इस भारतीय धर्म के विषय में लिखा है।

ईशरवुड हालिवुड केन्द्र में ढाई वर्ष रहे और पातंजल योगसूत्र भगवद्गीता, सॉंग आफ गाड एवं अन्य वेदान्त ग्रन्थों के भाषान्तर में उन्होंने वहाँ के अध्यक्ष स्वामी प्रभवानन्द की सहायता की। हक्सले, हर्ड, ईशरवुड, व्हान ड्रूटेन एवं अन्य सज्जनों ने भी 'वेदान्त एण्ड दि वेस्ट' पत्रिका में लेख प्रकाशित किये।

वेदान्त

ईसाई धर्म के अन्तर्गत विभिन्न मतों के पादरीगण वेदान्त के सर्वेश्वरवादी तत्त्वज्ञान के प्रति आकृष्ट हुए हैं क्योंकि यह तत्त्वज्ञान सभी धर्मों के मूल में उस एक ही दैवी स्फूर्ति के दर्शन करता है। बिशप फ्रेड्रिक बी० फिशर

भारत में कई वर्षों तक मेथोडिस्ट बिशप रह चुके हैं। उन्होंने फ्लोरिडा के लेकलैंड स्थित मेथोडिस्ट फ्लोरिडा सदर्न कॉलेज की ध्यानवाटिका के लिए बनारस से हिन्दू मन्दिर भेजा था।

वेदान्त के अनुयायियों में कॉलेज और विश्वविद्यालयों के अनेक प्रोफेसर भी हैं। लासऐंजलिस ऑक्सीडेन्टल कॉलेज के डा० पर्सी एच हाउस्टन दक्षिण कैलिफोर्निया की वेदान्त समिति के प्रथम अध्यक्ष थे। अन्य साधारण सदस्य व्यापार एवं रोजगार वाले हैं। इनके अतिरिक्त, ऐसी सम्पन्न महिलाएँ भी उसकी अनुयायी हैं जिनके पास प्रचुर अवकाश है और जिन्होंने वेदान्त दर्शन में जीवन की पूर्णता प्राप्त की है।

ये सभी केन्द्र सदस्यों के स्वेच्छापूर्वक दिये हुए दान और मित्रों द्वारा प्रदत्त उपहारों से ही चल रहे हैं। स्वर्गीया मेरी मॉर्टन ने अपना पश्चिम ७१ वीं सड़क के ३४ नंबर का बँगला न्यूयार्क की वेदान्त समिति को दान में दे दिया। ये लेवी० पी० मॉर्टन की पुत्री थीं, जो बेंजामिन हेरीसन के अध्यक्ष रहते समय संयुक्त राष्ट्र के उपाध्यक्ष थे। सान्टा बारबरा का श्री सारदा मठ एक अवकाशप्राप्त व्यवसायी स्वर्गीय स्पेंसर केल्लाग द्वारा दक्षिण केलिफोर्निया की वेदान्त समिति को दिया गया है। दक्षिण केलिफोर्निया की वेदान्त समिति श्रीमती सी० एम० वाइकॉफ, हॉलिवुड के दान से स्थापित हुई; उन्होंने अपना बँगला इस कार्य के लिए दिया तथा पर्याप्त वार्षिक अनुदान की भी व्यवस्था

कर दी। उन्होंने इसके अतिरिक्त दस हजार डालर की बीमा पॉलिसी भी उक्त वेदान्त समिति को दान कर दी जिसके फलस्वरूप १६३८ में हॉलिवुड के वेदान्तमन्दिर का निर्माणकार्य पूर्ण हो सका। एक इटालियन अमीर पुरुष हॉलिवुड में रहते समय वेदान्त के प्रति आकर्षित हुए और उन्होंने अपने सन्तरे के बगीचे से होनेवाली आय दक्षिण केलिफोर्निया समिति को दे दी। जेराल्ड हर्ड ने उक्त समिति को ट्राब्युको केनियन का रामकृष्ण मठ प्रदान किया।

संन्यासी गण

इन केन्द्रों के अधिकारी संन्यासीगण संयुक्तराष्ट्र की धार्मिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक गतिविधियों में सक्रिय भाग लेते हैं। न्यूयार्क केन्द्र के अध्यक्ष स्वामी निखिलानन्द कोलंबिया विश्वविद्यालय के अन्तर्गत अन्तर्धार्मिक संबन्धों के सेमीनार में सदस्य रह चुके हैं। वे न्यू ब्रन्सविक (न्यू जर्सी) के डगलस कालेज में हिन्दू तत्त्वज्ञान पर एक कक्षा भी चलाते थे। उन्होंने अन्य विश्वविद्यालयों में भी व्याख्यान दिये हैं और वहाँ के गिरजाघरों में उपदेश किया है।

होंड आइलैंड, प्रॉविडेन्स की वेदान्त समिति के अध्यक्ष स्वामी अखिलानन्द कई समाजों के सदस्य हैं; जैसे धर्मोपदेशकों का सार्वदेशिक समाज, होंड द्वीप धर्मोपदेशक संघ, जागतिक समस्या सभा तथा होंड द्वीप तत्त्वज्ञान समिति। उन्होंने इन समस्त समितियों के तथा

देश भर में अन्य संगठनों के समक्ष उपदेश दिये हैं। साथ ही, उन्होंने धर्मोपदेश परामर्शदात्री मासाचुसेट्स संस्था की नियंत्रक समिति में, मासाचुसेट्स प्रौद्योगिकी संस्था के अधिकारियों के साथ, विद्यार्थियों के लिए धार्मिक अध्ययन का कार्यक्रम निरूपित करने में कार्य किया है। उन्होंने मासाचुसेट्स प्रौद्योगिकी संस्था के विद्यार्थियों की सार्वजनिक उपासनाओं का नायकत्व भी किया है तथा उन्हें अनुदेशन दिया है।

ओरेगन पोर्टलैण्ड वेदान्त समिति के अध्यक्ष स्वामी अशेषानन्द ने ओरेगन के कालेजों में तथा अन्यत्र व्याख्यान दिये हैं, जिनमें मुख्य हैं विलामेट विश्वविद्यालय, पोर्टलैण्ड स्टेट कालेज और रीड कालेज। सिएटल, वाशिंगटन रामकृष्ण वेदान्त केन्द्र के स्वामी विविदिशानन्द ने सन् १९५८ में हवाई द्वीप में चार सप्ताह धार्मिक कक्षाओं में शिक्षा, व्याख्यान एवं अनुदेशन प्रदान करते हुए बिताए।

प्रायः सभी केन्द्र अपने सदस्यों के लिए ग्रंथालय अथवा वाचनालय संचालित करते हैं जो सार्वजनिक धर्मोपासना के पूर्व सर्वसाधारण के लिए खुले रहते हैं।

कुछ केन्द्रों में प्रकाशन का कार्य भी होता है। रामकृष्ण-विवेकानन्द केन्द्र, न्यूयार्क सिटी के प्रकाशनों में 'दि गॉस्पेल आफ श्रीरामकृष्ण' (श्रीरामकृष्ण वचनामृत) तथा भगवद्गीता, आत्मबोध एवं उपनिषद् का स्थान प्रमुख है। इन ग्रंथों का अंग्रेजी में अनुवाद तथा उनपर टिप्पणी स्वामी निखिलानन्द ने की है।

दक्षिण कैलिफोर्निया वेदान्त समिति का वेदान्त प्रेस भाषान्तर और नूतन रचनाएँ प्रकाशित करता है। वह १६३८ से 'वेदान्त एण्ड दि वेस्ट' नामक द्वैमासिक पत्रिका का प्रकाशन कर रहा है तथा अमेरिकन पुस्तक-विक्रेताओं के लिए भारतीय प्रकाशनों का भंडार अपने पास रखता है।

इन सभी केन्द्रों में जो प्रमुख बात दीखती है वह है भारत के रामकृष्ण संघ की मुद्रा, जिसकी कल्पना संघ के संस्थापक स्वामी विवेकानन्द ने की थी। इस गोल मुद्रा को लपेटता हुआ सर्प योग या एकाग्रता का प्रतीक है; प्रक्षुब्ध जलराशि पर शान्त भाव से स्थित हंस कर्म-चांचल्य से निर्लिप्त मनुष्य की आत्मा का प्रतीक है; सामने का कमल प्रेम का और क्षितिज पर सूर्य की चमकती किरणें ज्ञान का। मुद्रा में संस्कृत भाषा में आदर्श वाक्य लिखा हुआ है—'तन्नो हंसः प्रचोदयात्'।

कैलिफोर्निया

संयुक्तराष्ट्र में रामकृष्ण संघ के सबसे बड़े और सक्रिय केन्द्रों में कैलिफोर्निया के दो केन्द्रों का स्थान प्रमुख है। स्वामी विवेकानन्द ने न्ययार्क में प्रथम वेदान्त समिति को स्थापना १८६४ में की थी और उन्होंने सन् १६०० में उत्तरी कैलिफोर्निया समिति का संस्थापन किया था। इस समिति का मुख्यावास सैन्फ्रान्सिस्को के पैसिफिक हाइट्स डिस्ट्रिक्ट के किनारे अवस्थित है। वह एक सुन्दर धूमिल

पीले रंग का तिमंजला प्रासाद है। यह नया मंदिर, जिसकी प्रतिष्ठा अक्टूबर १६५६ में हुई, समिति के लगभग २२५ सदस्यों के प्रयत्न द्वारा बना है।

इस नये मंदिर के निर्माण के पहले तक पहले का बना हिन्दू मंदिर ही मुख्य केन्द्र का काम देता रहा। यह नये मंदिर से चार मकान हटकर है। यह धूसर अरुण काष्ठ निर्मित प्रासाद सन् १६०५ में स्वामी त्रिगुणातीत द्वारा निर्मित हुआ था। इसके ऊपरी भाग में पकी मिट्टी के समान बादामी लाल रंग की चार मीनारें हैं जिनके स्थापत्य में हिन्दू, मुस्लिम एवं एंग्लोसैक्सन स्थापत्य कला का समन्वय है।

नये मंदिर के भीतर वेदी, दैवत्व की वेदान्तीय धारणा का प्रतीकत्व करती है। इस पर एकदम वाम भाग में ईसा मसीह की प्रतिकृति है और एकदम दक्षिण में बुद्ध की; केन्द्र में श्रीरामकृष्ण की प्रतिकृति है जिसके आजू बाजू श्री माँ सारदा देवी तथा स्वामी विवेकानन्द की प्रतिकृतियाँ हैं। सभाभवन प्रतिदिन ध्यान के लिए खुला रहता है। रविवार को प्रातःकाल एवं बुधवार को संध्याकाल नूतन मंदिर में सामूहिक धर्मोपदेश होता है तथा शुक्रवार को भारतीय तत्त्वज्ञान पर पुराने मंदिर में कक्षा लगती है। इन कार्यक्रमों में सदस्यगण उपस्थित रहते हैं एवं उतनी ही संख्या में वे भी, जिनकी इसमें रुचि है पर जो सदस्य नहीं हैं।

एक अन्य कक्षा पाश्चात्य ज्ञान के अध्ययन के सम्बन्ध में केवल सदस्यों के लिए लगती है तथा कई वर्षों से

संस्कृत की कक्षाएँ सदस्यों द्वारा, सदस्यों के लिए, चलाई जा रही हैं।

सन् १९४१ से, ६ से १६ वर्ष की आयु वाले बच्चों के लिए एक रविवासरीय पाठशाला भी पुराने मंदिर में चलाई जा रही है।

मठ

समिति सैन्फ्रांसिस्को में एक मठ एवं विहार का संचालन करती है। इस मठ की शाखाएँ ओलेमा रिट्रीट एवं सेक्रामेन्टो केन्द्र में हैं। मठ एवं विहार के सदस्य संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के नागरिक हैं जिन्होंने धार्मिक जीवन को अपना लिया है। नये एवं पुराने दोनों मंदिरों में पुस्तक की दुकानें हैं तथा नूतन मंदिर में समिति के सदस्यों के लिए एक ग्रंथालय है।

समिति को दो शाखाएँ सेक्रामेन्टो और बर्कली, कैलिफोर्निया में स्थापित की गई हैं। सेक्रामेन्टो की शाखा का प्रारंभ सन् १९४९ में वेदान्त के एक भक्त के निवासस्थान पर अनौपचारिक रूप से हुआ था। वह सन् १९५२ में समिति के साथ विधिपूर्वक संबन्धित कर ली गई।

केन्द्र के मठवासी एवं सामान्य सदस्यों ने प्राचीन सेक्रामेन्टो नगर की सीमा के बाहर एक उपासना गृह भी निर्मित किया, जिसकी प्रतिष्ठा सन् १९५३ में की गई।

समिति के तत्त्वावधान में कई विशेष आयोजन होते हैं, जो विविध धर्मों के समन्वय पर बल देते हैं। विश्व के

महान् धर्माचार्यों—जैसे, श्रीकृष्ण, बुद्ध और ईसामसीह—के जन्मदिन के उपलक्ष में विशेष समारोह होते हैं; जो सदस्यों एवं अ-सदस्यों को समान रूप से प्रिय हैं। इसके अतिरिक्त, प्रतिवर्ष ग्रीष्मावकाश के पूर्व एक स्वागत-समारोह सैन्फ्रांसिस्को समिति तथा बर्कली एवं सेक्रामेंटो केन्द्रों के सदस्यों द्वारा, सदस्यों के ही लिए संयुक्त रूप से मनाया जाता है। यह प्रायः नूतन सैन्फ्रांसिस्को मन्दिर के सभा-भवन में आयोजित होता है। शास्त्रीय एवं धार्मिक संगीत, किसी धार्मिक अथवा दार्शनिक विषय पर विशेष रूप से तैयार की गई रचना का पठन आदि सदस्यों द्वारा ही संपन्न होता है। तत्पश्चात् श्रोताओं द्वारा ही गोष्ठी होती है। उपस्थिति में सदस्य एवं निमंत्रित मित्रगण होते हैं और कभी कभी यह संख्या २०० तक पहुँच जाती है।

तीर्थयात्रा

एक और आकर्षक समारोह है ओलेमा रिट्रीट की तीर्थयात्रा। इसकी शुरुआत बर्कली शाखा-केन्द्र द्वारा की गई थी। यह यात्रा प्रतिवर्ष ३० मई को होती है और इसके अन्तर्गत धार्मिक संगीत, पठन-पाठन और ध्यान के कार्यक्रम होते हैं।

ओलेमा रिट्रीट दो हजार एकड़ तक फैला हुआ विशाल भूमिखण्ड है, जिसमें चीड़ के जंगल और चरागाह हैं। सैन फ्रांसिस्को से मोटर द्वारा एक घंटे का रास्ता है। रिट्रीट

की एक एकान्त वाटिका में भगवान् बुद्ध का देवायतन है। समिति धीरे धीरे सभी धर्मों की महान् आध्यात्मिक विभूतियों के देवायतन स्थापित करना चाहती है। यह उनमें से पहला है।

समिति के और दो रिट्रीट हैं। एक लेक टाहो पर १५० एकड़ का भूखण्ड है। यह संन्यासियों के उपयोग में आता है। दूसरा सैन फ्रांसिस्को से ८० मील दूर सैन ऐन्टोन व्हेली में लिव्हरमोर का शान्ति आश्रम है। यह स्वामी विवेकानन्द को सन् १६०० में प्रदान किया गया था। जलाभाव एवं पहुँचने की कठिनाइयों के कारण यह प्रायः उपयोग में नहीं आता, किन्तु अपने ऐतिहासिक सम्बन्ध के कारण रख लिया गया है।

दक्षिण कैलिफोर्निया की वेदान्त समिति, अमेरिकन संयुक्त राज्यों में अवस्थित रामकृष्ण संघ के केन्द्रों में सबसे अधिक क्रियाशील है। इसका मुख्यावास हालिवुड में है। इसकी स्थापना सन् १६३० में स्वामी प्रभवानन्द द्वारा हुई थी, जिन्होंने पोर्टलैण्ड, ओरेगन के केन्द्र का भी संस्थापन किया था।

यह मुख्य केन्द्र सुन्दर तीन कलशवाला एक भव्य श्वेत मन्दिर है। इसके पार्श्वों में देवदारू वृक्षों की पंक्तियाँ हैं। यह हालिवुड मुख्य मार्ग एवं व्हाइन स्ट्रीट के विभाजन के समीप प्रशान्त भाव से स्थित है तथा अपने ध्वनिरोधी (साउंड प्रूफ) प्राचीरों के कारण हालिवुड की दो प्रमुख वीथियों की जनपथ-गर्जना से निर्लिप्त रहता है।

कक्षाएँ

समिति की कक्षाएँ और व्याख्यान सन् १६३० तक एक किराये के सभाभवन में होते रहे। तत्पश्चात् भगिनी ललिता ने, जो संघ में सम्मिलित होने के पूर्व श्रीमती कैरी मोड वाइकफ के नाम से परिचित थीं, अपना हालिवुड का निवासस्थान एवं एक पर्याप्त मूल्य की वार्षिक आय स्वामी प्रभवानन्द को समर्पित कर दी। श्रीमती वाइकफ का निवास अब 'विवेकानन्द होम' बन गया। श्रीमती वाइकफ के एक और दस सहस्र डालर की बीमा-निधि के दान द्वारा मन्दिर का निर्माण सम्पूर्ण हुआ। अब यही मुख्य केन्द्र है।

आज यह समिति हालिवुड के केन्द्र के अतिरिक्त, सान्टा बारबरा के वेदान्त मन्दिर और श्री सारदा मठ का तथा ट्राब्युको केनियन के रामकृष्ण मठ का संचालन कर रही है।

इन सभी केन्द्रों में ध्यान के लिए प्रातः और सायं नियमित समय है, नित्य पूजा-उपासना होती है और हर पखवाड़े रामनाम संकीर्तन होता है। प्रति वर्ष काली पूजा और शिवरात्रि उत्सव मनाया जाता है तथा श्रीरामकृष्ण, उनकी लीला-सहधर्मिणी माँ सारदा देवी, स्वामी विवेकानन्द और स्वामी ब्रह्मानन्द के जन्मोत्सव मनाये जाते हैं। क्रिसमस, गुड फ्राइडे और ईस्टर दिवस पर विशेष धर्मोपदेश भी होते हैं।

सान्टा बारबरा एवं हालिवुड दोनों मन्दिरों में रविवासरीय व्याख्यान होते हैं। हालिवुड केन्द्र में प्रति सप्ताह दो कक्षाएँ तथा बारबरा केन्द्र में एक कक्षा प्रति पक्ष होती है।

सन् १९५० से हालिवुड केन्द्र में सब धर्मों के ग्रन्थ विक्रय करने के लिए एक दूकान संचालित हो रही है। समिति का प्रकाशन विभाग, वेदान्त प्रेस के द्वारा भारतीय ग्रन्थों का संग्रह कर, संयुक्त राज्यों में वितरण के लिए रखता है एवं नवीन ग्रन्थ प्रकाशित करता है। वेदान्त प्रेस सन् १९३८ से 'वेदान्त एंड दि वेस्ट' नामक द्वैमासिक पत्रिका का भी प्रकाशन करता है।

दक्षिण कैलिफोर्निया वेदान्त समिति की इन तीन शाखाओं में सब मिलाकर चौदह ब्रह्मचारिणियाँ, बारह ब्रह्मचारी एवं दो संन्यासी हैं।

संन्यासिनियाँ

ये अमेरिकन संन्यासी और संन्यासिनियाँ कोई विशेष वेशभूषा नहीं पहनते। एक ऐसे पहनावे के लिए प्रयत्न अवश्य चले थे जो उपयुक्त और व्यावहारिक हो तथा साथ ही असामान्य न हो, पर इसमें सफलता नहीं मिली।

दक्षिण कैलिफोर्निया वेदान्त समिति के द्वारा संचालित रामकृष्ण मठ का प्रारम्भ प्रख्यात अँगरेज लेखक और दार्शनिक जेराल्ड हर्ड द्वारा एक धार्मिक महाविद्यालय के रूप में हुआ था। वह केवल वहीं निवास करने वाले अथवा

प्रवेश लेनेवाले विद्यार्थियों के लिए ही नहीं था, वरन् वेदान्त में रुचि रखनेवाले सभी के लिए वह एक आश्रम के समान था।

हर्ड ने सान्टा एना पर्वतों में ऊँची जगह पर, लास एंजलिस से ६५ मील दक्षिण की ओर ट्राब्युको केनियन में ट्राब्युको कालेज का भी निर्माण किया। इसका उद्घाटन सन् १९४२ में हुआ। वेदान्त में रुचि रखनेवाले लोगों ने इस कार्य में सहायता की। उनमें प्रमुख हैं—प्रसिद्ध लेखक आल्डस हक्सले, हालिवुड कांग्रिगेशनल चर्च के एलान हन्टर, अवकाशप्राप्त व्यवसायी स्पेन्सर केल्लाग जूनियर, तथा हार्पर एंड ब्रदर्स प्रकाशन संस्था के धर्म-विभागके सम्पादक यूज़ीन एक्समैन। वस्तुतः, ट्राब्युको मठ में ही हक्सले ने अपनी "दि पेरीनियल फिलासफी" लिखी, और हर्ड ने भी अपने कई ग्रन्थ वहीं लिखे।

ट्राब्युको कालेज की दिनचर्या पाश्चात्य मठ-निवासियों के अनुरूप एवं मुख्यतया सेन्ट बेनेडिक्ट के नियमानुसार निर्धारित हुई थी। पर आर्थिक कठिनाइयाँ उपस्थित हो गयीं और यह परीक्षण समाप्त कर दिया गया। जेराल्ड हर्ड ने अब तीन सौ एकड़ में फैली इस संस्था को दक्षिण कैलिफोर्निया की वेदान्त समिति को समर्पित कर दिया। इस समिति ने उसे सन् १९४९ में रामकृष्ण मठ का रूप दे दिया।

अब आठ अमेरिकन और उनके स्वामी जी मठ में निवास करते हैं तथा पड़ोस के कृषकों के समान कुक्कुटी,

कुक्कुट शावक, दोग्ध्री गौ, नित्यप्रति के उपयोगी पदार्थ एवं शाक-सब्जी उत्पन्न करते हैं।

विहार (स्त्री-मठ)

सान्टा बारबरा का श्री सारदा मठ दक्षिण कैलिफोर्निया की वेदान्त समिति द्वारा संचालित संस्थाओं में से एक है। इस मठ का प्रारम्भ और विकास अधिकांशतः कुछ व्यक्तियों की निष्ठा के फलस्वरूप हुआ। उदार वसीयत के साथ प्रारम्भिक सम्पत्ति का दान अवकाशप्राप्त व्यवसायी स्पेन्सर केल्लाग ने सन् १९४४ में अपनी मृत्यु के समय दिया था।

सन् १९५३ में मोन्टेसिटो, कैलिफोर्निया की श्रीमती रुथ शीट्स मठ में दर्शनार्थ पधारीं और उनमें वहाँ एक मन्दिर निर्माण करने की विशेष रुचि जागृत हो गयी। यद्यपि वे एक मारात्मक रोग से आक्रान्त थीं, तथापि उन्होंने अपनी सारी शक्ति इस योजना की पूर्ति में लगा दी। रचना के रूपांकन के लिए स्थापत्य-कलाविद् लूठा मैरिया रिग्ज़ को पारिश्रमिक पर बुलाया गया। सन् १९५५ में अपनी मृत्यु पर, श्रीमती शीट्स भवन-निर्माण-निधि के लिए पर्याप्त धन वसीयत कर गयीं। अड़तीस आधारस्तम्भों पर बना यह मन्दिर सन् १९५६ में सम्पूर्ण होकर विधिपूर्वक समर्पित हुआ।

रामकृष्ण संघ के अन्तर्गत सर्वप्रथम सन् १९४७ में

महिलाओं को विधिवत् ग्रहण किया गया। उस समय सात तरुणियाँ समिति के हालिवुड केन्द्र से संघ के सर्वप्रथम स्त्री-मठ की स्थापना में सहायता प्रदान करने के लिए श्री सारदा मठ चली आयीं। अभी वहाँ लगभग बारह भगिनियाँ हैं जो अपने समय का विभाजन कर श्री सारदा मठ और हालिवुड केन्द्र दोनों में सेवा कर रही हैं।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में रामकृष्ण संघ के निम्नलिखित केन्द्र हैं:—

(१) रामकृष्ण वेदान्त सोसायटी, ५८ डीयरफील्ड स्ट्रीट, वोस्टन (मासाचुसेट्स) (मार्शफील्ड, मासाचुसेट्स में इनकी एक विश्रामस्थली भी है।)

(२) विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी, ४४, ईस्ट एल्म स्ट्रीट, शिकागो (इलिनाएस)

(३) वेदान्त सोसायटी आफ सदर्न कैलिफोर्निया, १९४६ वेदान्त प्लेस, हालिवुड (कैलिफोर्निया)। (इनका ट्राब्युको केनियन में एक मठ है और सान्टा बारबरा में एक स्त्री-मठ।)

(४) दि वेदान्त सोसायटी, ३४, वेस्ट ७१ वीं स्ट्रीट, न्यूयार्क २३ (न्यूयार्क)।

(५) दि रामकृष्ण-विवेकानन्द सेन्टर, १७, ईस्ट ९४ वीं स्ट्रीट, न्यूयार्क २८। (इनकी थाउज़ण्ड आइलैण्ड पार्क, न्यूयार्क में एक विश्रामस्थली है।)

(६) दि वेदान्त सोसायटी, १८७७, एस० डब्ल्यू० पार्क एवेन्यू, पोर्टलैण्ड (ओरेगन)। (कोलम्बिया नदी की उपत्यका पर इनकी एक विश्रामस्थली है।)

(७) दि वेदान्त सोसायटी, २२४, एंजेल स्ट्रीट, प्राविडेन्स (होंड आइलैण्ड) । (मार्शफील्ड, मासाचुसेट्स में इनका बोस्टन सोसायटी के साथ सम्मिलित रिट्रीट है ।)

(८) दि वेदान्त सोसायटी, २०५, साउथ स्किकर बूलिवार्ड, सेंट लुई (मिसौरी) ।

(९) दि वेदान्त सोसायटी आफ नादर्न कैलिफोर्निया, २९६३, वेब्स्टर स्ट्रीट, सैन फ्रांसिस्को (कैलिफोर्निया) । (इसकी शाखाएँ बर्कली और सैकामेन्टो में हैं तथा लिव्हरमोर, ओलेमा एवं लेक टाहो में विश्राम स्थलियाँ हैं ।)

(१०) दि रामकृष्ण वेदान्त सेंटर, २७१६, ब्रॉडवे ईस्ट, सिएटल (वाशिंगटन) ।

—'अमृतबाजार पत्रिका पूजा एनुवल १९६२' से साभार ।

रूपान्तरकार—डा० त्रेतानाथ तिवारी ।

— x —
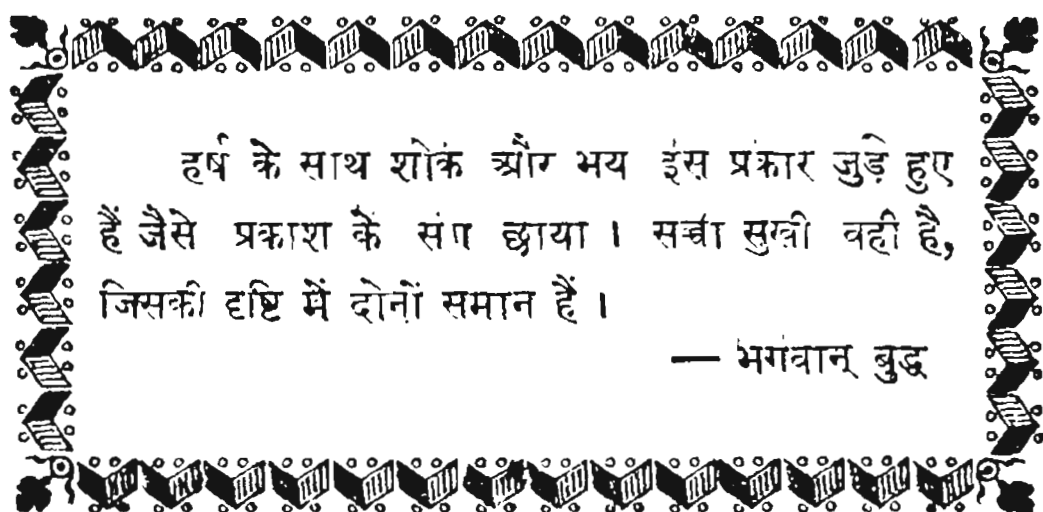
हर्ष के साथ शोक और भय इस प्रकार जुड़े हुए हैं जैसे प्रकाश के संग छाया । सच्चा सुखी वही है, जिसकी दृष्टि में दोनों समान हैं ।

— भगवान् बुद्ध

संत अगस्ताइन

श्री रामेश्वर नन्द

मनुष्य के जीवन और चरित्र के निर्माणमें उसके वंशानुक्रम और परिवेश का बड़ा हाथ रहता है। इनकी अनुकूलता एवं प्रतिकूलता के अनुरूप ही मनुष्य की जीवनदिशा उत्थान या पतन के मार्ग पर अग्रसर होती है। अनुकूल एवं सुविधासम्पन्न स्थिति में प्रगति करना न तो पुरुषार्थ की अपेक्षा रखता है और न आश्चर्य का ही विषय होता है। ऐसे लोग अपने जीवन में भले ही नाम और यश कमा लें पर वे दूसरों के लिए विशेष प्रेरणास्पद नहीं बनते। किंतु जिनका जीवन विपरीत परिस्थितियों में बीतता है तथा जिनके जीवन का प्रत्येक पल संघर्ष के कँटीले पथ से होकर गुजरता है और जो इन प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझते हुए भी उन सफलताओं को प्राप्त कर लेते हैं जो विशेष सुविधासम्पन्न लोगों को भी उपलब्ध नहीं होते, तो हमें बड़ा आश्चर्य होता है। ऐसे ही व्यक्ति अपने सामयिक जीवन को विशेष रूप से प्रभावित करते हैं तथा उसका स्वरूप ही बदल देते हैं। इन्हीं लोगों को 'अवतार', 'महान संत' और 'महापुरुष' के नामों से पुकारा जाता है। इनके कार्यों से इतिहास की धारा एक मोड़ ले लेती है तथा राष्ट्रीय जीवन में एक युगान्तर उपस्थित हो जाता है।

अगस्ताइन एक ऐसे ही महापुरुष थे। बिल्वमंगल के

समान ही उनका जीवन अधोपतन और नैतिक चरमोत्कर्ष का जीवन्त दृष्टांत है। उनका जीवन यह बताता है कि मनुष्य किस प्रकार चरित्रहीनता और नैतिक अराजकता के गहन अन्धकूप से निकलकर अपने पुरुषार्थ, पश्चात्ताप और ईश्वर-निष्ठा के द्वारा अपने जीवन को ऊँचा उठा सकता है। उन्होंने अपने विगत जीवन को 'कनफेशन्स ऑव सेन्ट आगस्टाइन' नामक ग्रन्थ में लिपिबद्ध किया है। इस ग्रन्थ को पश्चिम के कुछ चुने हुये श्रेष्ठ धार्मिक ग्रन्थों में रखा जाता है। उन्होंने नाम और यश अर्जित करने के लिए या अपने संयम अथवा सदाचार की महत्ता बताने के लिए इस ग्रंथ की रचना नहीं की थी। इस ग्रन्थ के प्रयोजन के सम्बन्ध में उनका कथन है कि "जब मैं अपने को बुरा कहता हूँ तब इसका अर्थ यही होता है कि मैं अपने-आप से दुःखी हूँ। किंतु जब मैं अपने-आप को पवित्र कहता हूँ तो इसका श्रेय मुझे नहीं है। जब मैं अपने पूर्वकृत्यों का स्मरण करता हूँ, या उन्हें पढ़ता हूँ, या सुनता हूँ, तब मेरा हृदय काँप उठता है; दुश्चिन्ता से मेरी नींद उड़ जाती है और हृदय विद्रोह से भरकर कहने लगता है कि 'नहीं, मैंने ऐसा नहीं किया।' किन्तु तेरी दया और करुणा से मैं पुनः शक्ति प्राप्त करता हूँ। मेरे भीतर जागृति का संचार होता है और अपने दुष्कर्मों का स्मरण कर मैं आनंदित हो उठता हूँ। मैं इन्हें बुराइयाँ समझकर आनंदित नहीं होता अपितु इसलिए आनंदित होता हूँ कि ये बुराइयाँ अब मुझमें नहीं रह गई हैं।"

वे अपने ही समान इस पुस्तक के द्वारा दूसरों में भी यह विश्वास उत्पन्न करना चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति जाति, वर्ग और वर्ण की सीमा से ऊपर उठकर अपने विश्वास, प्रयास और ईश्वर निष्ठा के द्वारा अपनी भूलों को सुधार सकता है तथा फिर से नए जीवन और आदर्शों की उपलब्धि कर सकता है।

संत अगस्ताइन का जन्म आज से लगभग सोलह सौ वर्ष पूर्व १३ नवम्बर सन् ३५४ में टागेस्टा नामक नगर में हुआ था। इनकी माता मोनिक्का अत्यन्त धर्मनिष्ठ महिला थीं। इनके पिता पैट्रिसियस विशेष धार्मिक व्यक्ति नहीं थे। बचपन में अगस्ताइन पढ़ाई-लिखाई में रुचि नहीं रखते थे। उनका मन खेलने-कूदने में ही लगा रहता था। ग्रीक भाषा को उन दिनों महत्त्वपूर्ण और विद्वता की निशानी माना जाता था। जो ग्रीक भाषा नहीं जानता था उसे विद्वान नहीं समझा जाता था। किंतु वे इस विदेशी भाषा की ओर रुचि उत्पन्न न कर सके थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा था—"बाध्यतापूर्वक सिखाए गए विषय की अपेक्षा सहज जिज्ञासा से सीखी जाने वाली बात अधिक सरल होती है।"

उनकी भाषा लैटिन थी इसलिए लैटिन साहित्य में उनकी बड़ी रुचि थी। किंतु वे मंद बुद्धि के छात्र नहीं थे। ग्रीक भाषा के अतिरिक्त वे सभी विषयों में प्रवीण थे। इसी प्रवीणता के कारण उन्हें आगे चलकर जीविकोपार्जन का साधन ढूँढने में कठिनाई नहीं हुई। उन्होंने अनेक

स्थानों में अध्यापन का कार्य किया था तथा अपना एक स्वतंत्र स्कूल स्थापित किया था। उन दिन वक्तृत्व-कला का बड़ा मान था। अगस्ताइन इस विषय में निष्णात थे और इसी की शिक्षा दिया करते थे। तर्कविद्या में उनकी बड़ी गति थी। इन बातों के कारण उनका नाम दूर-दूर तक फैल गया था।

दुर्भाग्य से अगस्ताइन बाल्यकाल से ही कुसंग में पड़ गए थे और उनका जीवन कुकृत्यों से कलुषित होने लगा था। झूठ बोलना उनका स्वभाव बन गया था तथा अपने माता, पिता और गुरुजनों से असत्य-भाषण करने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता था। वे चोरी करना भी सीख गए थे। सोलह वर्ष की अवस्था तक उनके दुर्गुणों की जड़ गहरी हो गई थी। यह अवस्था मनुष्य के जीवन का संक्रांतिकाल होती है। इस आयु में पड़े हुए संस्कार बड़े गहरे होते हैं और उन्हें भविष्य में दूर करना अत्यंत कठिन होता है। यदि व्यक्ति को इस अवस्था में शुभ संस्कार मिलते हैं तो उसका आगामी जीवन पवित्र और आदर्शवान् हो जाता है। किंतु यदि व्यक्ति के मन में इस समय बुरे संस्कार पड़ते हैं तो उसका जीवन जर्जर हो जाता है। अगस्ताइन को जीवन के इस संक्रांतिकाल में बुरे संस्कारों की ही प्राप्ति हुई थी। किशोरावस्था के दोषों से उनमें अन्य दोषों की उत्पत्ति भी हुई थी।

किशोरावस्था अगाध भावुकता की अवस्था होती है। जीवन के इस काल के निर्माण में माता-पिता की अपेक्षा

मित्रों का अधिक योग रहता है। किशोर अगस्ताइन के चारों ओर ऐसे मित्रों की कमी नहीं थी जो नैतिक अराजकता में सिर से पैर तक डूब गये थे। ये मित्र जब अपने कुकृत्यों की चर्चा बड़े गर्व से किया करते तब किशोर अगस्ताइन का मन हीनता से भर जाता और वे स्वयं को दुर्बल समझने लगते थे। वे अधिकाधिक दुष्कृत्यों का सम्पादन कर अपने मित्रों को पछाड़ देना चाहते थे। फल यह हुआ कि उनकी दैहिक भूख आध्यात्मिकता को निगलती गई और वे बड़ी तीव्रता से कुमार्ग में अग्रसर होते गए। किशोरावस्था में वे एक ऐसे पथ पर चलने लगे थे जिसके पथिक का लौटना प्रायः असम्भव हो जाता है। इसका स्मरण करते हुए उन्होंने लिखा है, "मैं अनेक बातों में खो गया। मेरे मन पर उबलते हुए यौवन, कामक्षुधा और दैहिक सुख की आसक्ति का एक ऐसा घना कुहरा छा गया कि मैं प्रेम और वासना का अन्तर न समझ सका। मेरा विवेक छूट गया।

अगस्ताइन के जीवन की सोलह वर्ष से लेकर तैंतीस वर्ष तक की अवधि अनेकानेक दुष्कर्मों और भोग-विलासों में ही बीती। उनकी माता मोनिक्का अपने पुत्र के इस अधः-पतन को देखकर अत्यंत दुःखी थीं। उन्होंने अनेक बार अपने पुत्र को समझाने का प्रयास किया था तथा परस्त्री-गमन से बचने का विशेष अनुरोध किया था। किंतु अगस्ताइन पर इस उपदेश या अनुनय-विनय का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे इन बातों को नारीहृदय की सहज दुर्बलता

समझते थे और उपहास में उड़ा दिया करते थे। उनके मन में अपने भ्रष्ट मित्रों से भी आगे बढ़ जाने की होड़ सी लगी थी। उनकी मित्र मंडली में जो जितना अधिक निकृष्ट कर्म करता था वह उतना ही अधिक प्रशंसित होता था तथा पुरुषार्थी माना जाता था। एक ओर प्रतिस्पर्द्धा की यह आग अगस्टाइन की विवेक बुद्धि को दिनोंदिन क्षीण बना रही थी, तो दूसरी ओर उनकी माता की आँखों से अश्रुओं का प्रवाह भी बह रहा था उनके अन्तःकरण से प्रार्थना की अजस्र धारा बह रही थी ताकि उनके पुत्र की विषयाग्नि बुझ सके।

अंतःकरण से की गई प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं जाती। एक दिन मोनिक्का की भेंट एक वृद्ध पादरी से हुई। मोनिक्का ने अपने पुत्र के कल्याण के लिए उनसे प्रार्थना की। तब पादरी ने कहा— "जाओ, और उसके लिए भगवान् से निरंतर प्रार्थना करो।" किन्तु उन्हें केवल इतने से संतोष नहीं हुआ। वे चाहती थीं कि पादरी अपनी कृपा से उनके पुत्र को सन्मार्ग की ओर आकर्षित करें। इसलिए उन्होंने पुनः उनसे याचना की। मोनिक्का के करुण एवं विकल प्रार्थना से द्रवित होते हुए पादरी ने कहा, "इन आँसुओं का पुत्र कभी भी मिट नहीं सकता। जाओ, प्रभु तुम्हारा कल्याण करेंगे।"

यह घटना उस समय की है जब अगस्टाइन २८ वर्ष के हो चुके थे और कार्थेज में शिक्षक का काम कर रहे थे। उनका सारा समय अधार्मिक एवं अश्लील साहित्य के

अध्ययन में बीता करता था। उनके जीवन में मिथ्या दम्भ, मान सम्मान की क्षुधा और भोगविलास की ज्वाला के अतिरिक्त कुछ भी मूल्यवान तत्त्व अवशिष्ट नहीं था। इसी समय उनकी भेंट फास्टूस नामक एक अन्य नास्तिक और आचारहीन पुरुष से हुई जिसने आँधी के समान अगस्ताइन के मन के बचे-खुचे दार्शनिक विचारों को भी एक झटके में उखाड़ फेंका। नैतिकता और ईश्वर के सम्बन्ध में अगस्ताइन का रहा-सहा विश्वास भी नष्ट हो गया। कार्थेज में उनकी शिक्षणकक्षा भी टूट गई क्योंकि यहाँ के विद्यार्थी उद्दण्ड थे। विद्यार्थियों से निराश होकर अगस्ताइन ने अपनी कक्षा बंद कर दी और वे रोम की ओर रवाना हो गए। जब उनकी माता को इस बात की सूचना मिली तो वे भी अपने पुत्र की खोज के लिए रोम की ओर निकल पड़ीं। रोम पहुँचकर अगस्ताइन बीमार हो गए और उनकी माता अपने रोगी पुत्र की सेवा-सुश्रूषा के साथ, उसे सद्बुद्धि प्रदान करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना भी करती रहीं।

यद्यपि अगस्ताइन अपनी माता की प्रार्थनाओं एवं शुभकामनाओं से स्वस्थ हो चले थे किंतु उनके जीवन में कोई परिवर्तन उपस्थित नहीं हुआ। उनका जीवन फिर भोगविलास के दलदल की ओर बढ़ चला। इसका कारण यह था कि धर्म और तत्त्व की बातें उन्हें निस्सार प्रतीत होती थीं; वे अतीन्द्रिय अनुभूतियों में कोई आस्था नहीं रखते थे। रोम में उन्हें फिर अपनी जीविका के सम्बन्ध

में कठिनाई हुई। यहाँ के छात्रों में एक नया दुर्गुण था। वे कुछ दिनों तक तो एक शिक्षक की कक्षा में उपस्थित होकर पढ़ते थे किंतु जैसे ही गुरु-दक्षिणा देने का अवसर आता वैसे ही वे कक्षा छोड़कर चले जाते थे। सौभाग्य से उन्हें ज्ञात हुआ कि मिलान में एक शिक्षक की आवश्यकता है और वे रोम छोड़कर मिलान चले आए। मिलान में उनकी भेंट नेब्रीडियस और एलीपियस नामक दो व्यक्तियों से हुई और वे उनके घनिष्ठ मित्र बन गए। इन तीनों का जीवन समान था। तीनों के मन में सत्य की चरमानुभूति के सम्बन्ध में बड़ी शंकाएँ थीं क्योंकि अब तक वे प्रायः भौतिकवादी एवं संदेहवादी दार्शनिकों के ही सम्पर्क में आए थे। प्रारंभ से ही भोगमय तथा इंद्रियलोलुप जीवन व्यतीत करने के कारण उनकी अतीन्द्रिय ज्ञान में कोई आस्था नहीं थी। पर ईश्वर की लीला को कौन समझ सकता है? उसकी दया कब किस व्यक्ति पर हो जाय इसे समझ सकना मानव-मस्तिष्क की सीमा से परे है। ईश्वर की कृपा से बिल्वमंगल जैसा पतित व्यक्ति महासंत बन जाता है, अंगुलिमाल जैसा क्रूर हत्यारा दस्यु बौद्ध भिक्षु हो जाता है तथा परम सुंदरी गणिका आम्रपाली भगवान् बुद्ध के चरणों में समर्पित होकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेती है। हमारा प्राचीन साहित्य इसप्रकार की विलक्षण घटनाओं से भरा पड़ा है।

अब अगस्टाइन के जीवन में भी मोड़ उपस्थित होता है। ऐसा लगता है कि ईश्वर ने उनकी माता की करुण

प्रार्थना सुन ली। मिलान में ही अगस्ताइन की भेंट एक उच्चकोटि में संत सिम्प्लीसिएनस से हुई। उनके उपदेशों का अगस्ताइन के जीवन पर महान् प्रभाव पड़ा। उनके पास उन्हें अपनी समस्त शंकाओं का समाधान मिल गया और उनके हृदय में ग्लानि और पश्चात्ताप की अग्नि धधक उठी। इस समय वे तैंतीस वर्ष के थे। इस महान् संत ने अगस्ताइन की नास्तिकता को समूल उखाड़ फेंका और उनके हृदय में धर्म की पवित्र ज्योति जला दी। अगस्ताइन अपने पन्द्रह वर्ष के अवैध पुत्र एडियोडेटस के साथ एंब्रोस फिलिप के द्वारा ईसाई धर्म में दीक्षित हो गए। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि अगस्ताइन को अठारह वर्ष की अवस्था में ही इस अवैध संतान की प्राप्ति हुई थी। जब उनकी माता को अपने पुत्र के हृदय-परिवर्तन का समाचार मिला तब वे गद्गद कण्ठ से ईश्वर को धन्यवाद देने लगीं। अंतिम समय में अपने पुत्र को आशीर्वाद देते हुए उन्होंने कहा था— "बेटा! मैं तुम्हें पार्थिव सुखों से विरत ईश्वर के सेवक के रूप में देखना चाहती हूँ। मेरी और कोई कामना नहीं है।"

अगस्ताइन ने अपनी माता की अंतिम इच्छा को अपने शेष जीवन में पूरी तरह से चरितार्थ किया। उन्होंने अपना जीवन प्रभु के चरणों में निवेदित कर दिया तथा ईसाई धर्म और चर्च के सुधार में अनेक महान् कार्य किए। बी. वारफील्ड महोदय ने उनके कार्यों का वर्णन करते हुए 'एनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स' में लिखा है कि

"उनकी शिक्षाओं से पश्चिम के जीवन का प्रत्येक विकासोन्मुख पक्ष अत्यधिक प्रभावित हुआ था। पश्चिमी जगत् के जीवन और दर्शन में उनका इतना असाधारण प्रभाव इसलिए पड़ा कि वे एक विशेष काल में अवतरित हुए थे तथा उन्होंने एक विशिष्ट व्यक्तित्व और प्रगल्भ चिंतन के साथ, एक विशिष्ट परिस्थिति में ईसाई धर्म में दीक्षा ली थी। वे संसार के दो अलग युगों के बीच में स्थित थे। प्राचीन युग बीता जा रहा था तथा नए युग के सामने परम्परागत आदर्शों को ग्रहण करने की समस्या थी। इन दोनों युगों के सांस्कृतिक समायोजन का दायित्व उनपर आ पड़ा था। प्राचीन संसार से प्राप्त होने वाली प्रत्येक अच्छी वस्तु को उन्होंने स्वीकार किया तथा उसमें अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व की छाप लगाकर नए सिक्के की तरह उसे नई पीढ़ी को प्रदान किया। वे अत्यंत मेधावी और प्रतिभावान व्यक्ति थे और उससे भी कहीं अधिक धार्मिक व्यक्ति थे। उन्होंने जीवन और दर्शन को मौलिकता प्रदान की थी। इस कैथोलिक ईसाई के अंतराल में एक प्रथम श्रेणी का दार्शनिक भी विद्यमान था तथा इन दोनों के भीतर एक महान् धार्मिक मेधा अथक रूप से कार्य कर रही थी। इसकी अभिव्यक्ति की जो असाधारण साहित्यिक क्षमता उनमें थी वैसी प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति चर्च के इतिहास में कोई दूसरा नहीं है।... चर्च के आचार्य के रूप में हम उनकी तुलना किसी महान् भाष्यकार के साथ कर सकते हैं। आज महान् वृक्ष के समान हमें रोमन चर्च का जो

विशाल अस्तित्व दिखता है उसका बीजारोपण इसी महान संत के हाथों हुआ था।"

संत अगस्ताइन चर्च को ईसा का शरीर और पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य मानते थे। उन्होंने ईसाई धर्म और दर्शन पर सात ग्रंथों की रचना की है। उन्होंने अपना समस्त जीवन चर्च की एकता, व्यवस्था और संचालन में लगा दिया था। वे संतों से कड़ा परिश्रम करने, भक्ति और पवित्रतापूर्ण जीवन व्यतीत करने और सादा जीवन बिताने का विशेष अनुरोध करते थे। कालान्तर में उनकी शिक्षाओं के पालन करनेवालों का एक विशेष सम्प्रदाय ही बन गया जिसे 'आगस्टीयन' कहा जाता है। सतत ईश्वर की स्मृति में तथा दीन-दुःखियों की सेवा में व्यस्त रहते हुए इस महान् संत ने ७२ वर्ष की अवस्था में २८ अगस्त सन् ४३० ईस्वी को अपनी देह त्याग दी। उनके जीवन की घटनाओं एवं परिवर्तन को देखकर दुर्बल से दुर्बल एवं पतित से पतित व्यक्ति को भी पवित्रता और महानता के चरम शिखर पर पहुंचने की बड़ी प्रेरणा प्राप्त होती है। उनका जीवन पाप पर पुण्य की और दुर्बलता पर दृढ़ता की विजय का ज्वलंत प्रमाण है।

ईश्वर में पूर्ण आत्म समर्पण से ही मनुष्य मुक्त हो सकता है।

— श्री माँ सारदा

कैनेडा में एक वर्ष

श्रीमती निर्मला शुक्ल, ओहियो (अमेरिका)

१६-२० जुलाई १६६३ की रात्रि में हम १ बजकर १० मिनट में एयर इंडिया के वायुयान द्वारा पालम हवाई अड्डे से उड़े। हमारा वायुयान बेरुत, जिनेवा और पेरिस होते हुए लन्दन पहुँचा। लन्दन में हम एरियल होटल में ८ घण्टे रुके। मेरे साथ मेरी पुत्रियाँ आभा एवं विभा (उस समय क्रमशः ४ व २ वर्ष की) थीं। ७½ बजे शाम को हम मांट्रियाल के लिये उड़े। २० तारीख को ही १० बजे रात्रि में मांट्रियाल पहुँचे। हमने दिल्ली से १६ तारीख को आभा के पिताजी के पास तार भेज दिया था; जिसमें हमने मांट्रियाल पहुँचने का समय तथा फ्लाइट नम्बर दे दिया था। वे अपने एक कैनेडियन मित्र श्री जिम सांडर्स के साथ कार में हमें लेने आये थे। जैसे ही हम कस्टम आफिस में पहुँचे, वे एक एयर होस्टेस के साथ दूसरी ओर से आते दिखाई दिये। हम जिम के काका के यहाँ ठहरे।

दूसरे दिन हमने मांट्रियाल शहर का भ्रमण किया। वहाँ हमने कैनेडा का सबसे ऊँचा भवन देखा, जिसे कैनेडियन लोग कॉमन-वेल्थ का सबसे ऊँचा भवन कहने से नहीं चूकते। माउन्ट रायल नामक पहाड़ी पर चढ़कर सारे मांट्रियाल शहर का विहंगम दृश्य देखा। मांट्रियाल शहर का नाम इसी पहाड़ी पर से है। तत्पश्चात् नीचे 'बीव्हर लेक'

के पास आये जहाँ लोग छुट्टी बिताने एकत्रित थे। अनेक दम्पत्ति घास पर बैठे या लेटे हुए थे। उस दिन काफी गर्मी पड़ रही थी। कैनेडा में इतनी गर्मी पड़ती होगी इसकी हमें कल्पना भी नहीं थी। बीव्हर लेक के चारों ओर के मैदान में हरी हरी घास थी जो मशीन से कटी होने के कारण बड़ी ही भली लग रही थी।

शाम को हम जिम की कार द्वारा फ्रेडरिक्टन के लिये रवाना हुए। सेन्टलॉरेन्स नदी के बायें किनारे पर से होकर हम जा रहे थे। हमारे बाईं ओर घने जंगल थे। वे भारत के वृक्षों से भिन्न थे। उनमें 'कोनी फेरस' अर्थात् शंक्वाकार वृक्षों की—पाइन, फर, बर्च आदि की-अधिकता थी। घास पर सुन्दर रंग बिरंगे फूल थे। सड़क पर आने जाने वाली मोटरों की अनन्त कतारें थीं। उनके प्रकाश से आँखें चौंधियाने लगी थीं। बाद में पता चला कि सप्ताहांत में छुट्टी बिताने बाहर गये लोगों के कारण सड़कों पर इसी तरह भीड़ हुआ करती है। सप्ताहांत में दुर्घटनाओं की संख्या अधिकतम होती है। करीब २०० मील चलने के बाद हम एक मोटेल (मोटर होटल) में रुके। प्रातः उठने पर हमने देखा कि मोटेल सेन्टलॉरेन्स नदी के बिल्कुल तट पर ही है। अनेकों बड़े बड़े जहाज नदी में आ-जा रहे थे। सेन्टलॉरेन्स नदी वहाँ पर काफी चौड़ी हो गई है। उस दिन ६ बजे प्रातः हम क्यूबेक के लिए रवाना हुए। लगभग आधा घण्टे बाद हम क्यूबेक पहुँचे। वह काफी पुराना शहर है अतः उसमें यूरोपीय शहरों की छाप है। सारा शहर

घूमने के बाद हमने फेरी से नदी पार की। फेरी क्या थी एक जहाज ही था। उसमें दो मंजिलें थीं। नीचे एक सौ पचास कारें आ सकती थीं। ऊपरी मंजिल में चाय आदि की दुकानें थीं। उसके ऊपर डेक था जहाँ बैठने का प्रबन्ध था। वहाँ से हम नदी की अनुपम शोभा निहारते रहे। दूसरे किनारे पर पहुँचने के पश्चात् हम नदी के किनारे किनारे प्रायः ७० मील तक गये। उसके बाद नदी का किनारा छोड़ दिया। ३-४ बड़ी-बड़ी झीलें मिलीं। एक झील के पास जहाँ पार्क था और तैरने तथा नौकाविहार की सुविधा थी, हम विश्राम के लिए रुके। छुट्टी बिताने के लिए वहाँ बहुत से लोग एकत्रित थे। मेरी साड़ी लोगों के आकर्षण का केन्द्र थी। एक लड़की ने पास आकर आग्रह किया, "कृपया क्या आप खड़ी होने का कष्ट करेंगी ताकि मैं आपकी पोशाक देख सकूँ?" हमारी आखिरी २०० मील की यात्रा सेन्टजॉन नदी के किनारे किनारे थी। कैनेडा में सड़कें प्रायः नदियों, झीलों या समुद्र के किनारे ही होती हैं। प्रारम्भ में जब यूरोप से लोग यहाँ आये तो वे जलतट पर ही बस गये। जल द्वारा सामान लाने और ले जाने में उन्हें सुविधा होती थी। इसके सिवाय, भोजन के लिये उन्हें मछली भी बहुतायत से मिलती थी। इसलिये सड़कें भी जलतट पर बनीं।

२२ तारीख की रात को हम फ्रेडरिक्टन पहुँचे। वहाँ का घर 'फर्निश्ड' था अतः वहाँ सारी गृहस्थी जमी-जमाई दिखी। सोफासेट, रेफरीजरेटर, पलंग, रेंजेट और ड्रेसिंग

टेबल आदि आवश्यक सभी सामग्रियाँ थीं। दूसरे दिन हम शापिंग के लिये ग्रोसरी स्टोर गये। वह दुकान भारत की दुकानों से भिन्न दिखी। वहाँ गृहिणी को आवश्यक प्रतिदिन की सभी सामग्रियाँ मिलती हैं। प्रवेशद्वार पर ही अनेक गाड़ियाँ रखी होती हैं। एक गाड़ी आप खींचिये। यदि आपके पास छोटा बच्चा हो तो उसे उस गाड़ी के सीट पर बिठा दीजिये और आवश्यक मनपसन्द सामान उठाते जाइये तथा गाड़ी पर रखते जाइये। अलग अलग विभाग में अलग अलग प्रकार की चीजें आपको मिलेंगी — साग-भाजी तथा फलों का, मसालों का, मेवे का, चाँवल-दाल-आटा आदि अनाजों का, डिसेज़-कटलरी का, खिलौनों का, कपड़ों का, दवाइयों का — इस तरह आपको अनेक विभाग मिलेंगे। किस विभाग में क्या चीजें मिलती हैं वह बड़े बड़े अक्षरों में लिखा होता है। प्रत्येक वस्तु के पैकेट पर उसका मूल्य लिखा होता है। आवश्यक चीजें उठा लेने के बाद अपनी गाड़ी आप काउन्टर पर ले जाइये। वहाँ जो लड़की खड़ी होगी वह एक एक वस्तु 'कन्वेयर बेल्ट' पर रखती जाती है जो उन्हें दूसरे छोर पर पहुंचाता है। लड़की साथ साथ सभी वस्तुओं की कीमत मशीन पर अंकित करती जाती है। अन्त में मशीन उसका योग करके बिल दे देता है। दूसरे छोर पर एक सहायक खड़ा होता है जो कागज की थैली या पुट्ठों के डब्बों में सामान रखता जाता है। आपके पास यदि कार हो तो वह सारा सामान आपकी कार में ले

जाकर रख देगा अन्यथा २५ सेन्ट देकर आप डिलीवरी के लिये भी कह सकते हैं। कुछ ऐसे स्टोर्स भी होते हैं जिन्हें आप घर से फोन कर दीजिये तो वे आवश्यक सामान पहुँचा देंगे। कुछ अन्य डिपार्टमेन्टल स्टोर्स भी होते हैं जहाँ बड़े बड़े विभिन्न विभाग होते हैं जैसे कपड़े, जूते, फर्नीचर, मेडिकल, डिसेज़ आदि। इन बड़े विभागों के कई उपविभाग होते हैं। जैसे कपड़े का ही ले लीजिये; उसके उपविभाग होंगे — स्त्रियों के लिये, पुरुषों के लिये, बच्चों के लिये। उनमें भी अलग अलग प्रकार की वस्तुओं का और भी छोटा विभाग होता है। एक ही कम्पनी की दुकानें कैनेडा के हर बड़े बड़े शहरों में होंगी। ये 'चेन स्टोर्स' कहलाती हैं। इस तरह के चेन स्टोर्स फर्नीचर, मशीनरी, मेडिकल, कपड़े तथा ग्रोसरी आदि अलग अलग प्रकार की वस्तुओं के हैं।

यहाँ पहुंचने के एक सप्ताह बाद मैंने यूनीवर्सिटी लाइब्रेरी में काम करना प्रारम्भ किया। पहले दिन मुझे वहाँ के सभी डिपार्टमेन्टस् में ले जाकर लोगों से मेरा परिचय कराया गया। वहाँ महिलायें ही काम करती हैं। वे मुस्कराती हुई ऐसे मिल रही थीं मानो वर्षों से परिचित हों।

यहाँ गृहिणियों को घर के सभी काम स्वयं करना पड़ता है क्योंकि नौकरों को काफी वेतन देना पड़ता है। पर विज्ञान के चमत्कार को धन्यवाद कि यहाँ की गृहिणियों के अधिकांश काम विद्युत्-चालित मशीनें कर देती हैं। अधिकांश घरों में कपड़ा धोने एवं सुखाने की

मशीन, वेक्यूम क्लीनर (झाड़ू लगाने की मशीन), बर्तन धोने की मशीन आदि होती हैं। पहले दिन लॉन्डरी में आना मेरा एक विशेष अनुभव था। लान्डरी में कपड़ा धोने और सुखाने की अनेक मशीनें रखी हुई थीं। धोने की मशीन में कपड़ा और साबुन डाल दीजिये; २५ सेन्ट का सिक्का निर्देशित स्लाट में डाल दीजिये, मशीन स्वतः चलने लगेगी। वह कपड़े धोकर और निचोड़कर प्रायः आधा घण्टे में स्वतः बन्द हो जायेगी। सुखाने की मशीन अलग होती है जिसमें धुले हुए कपड़े डाल दीजिये और १० सेन्ट का सिक्का भी उसमें तेजी से गर्म हवा आने लगती है और कपड़ा थोड़ी देर में सूख जाता है। आपके पास यदि साबुन न हो तो एक विशेष मशीन में उचित सिक्का डाल दें तो साबुन का डिब्बा निकल आयेगा; यदि आपके पास रेजगारी न हो तो एक दूसरी मशीन से छुट्टे ले लीजिये। यदि आप बैठे बैठे ऊब रहे हों तो 'कोक वेन्डर' मशीन से कोका कोला, आरेन्ज आदि पेय पदार्थ ले सकते हैं।

अगस्त के अन्त में यहाँ की एक महिला ने भारतीय विद्यार्थियों और परिवारों को अपने 'समर कैम्प' में निमंत्रण दिया। वे जिस चर्च की सदस्या हैं उस चर्च की कुछ शाखायें उड़ीसा तथा आन्ध्र में काम कर रही हैं, अतः वे भारतीयों में विशेष रुचि लेती हैं। वह कैम्प ग्रैण्ड लेक नामक झील के किनारे अत्यन्त ही रमणीक स्थल में निर्जन में है। सारा रास्ता जंगलों में से होकर था। वहाँ अन्य

भारतीय परिवारों तथा विद्यार्थियों से मिलकर अत्यन्त खुशी हुई। भारत से हजारों मील दूर होते हुए भी ऐसा लगा मानों हम भारत में हों।

सितम्बर माह के थम सप्ताह में 'स्टूडेन्टस वाइन्स एसोसियेशन' की ओर से १५ मील दूर मेरिसविल नामक स्थान जाने का कार्यक्रम था। हम ७॥ बजे रात्रि को घर से निकले। रात काफी सर्द थी। वहाँ कैम्प फायर जलाया गया। स्वल्पाहार आदि हुआ। कैनेडियन तथा अन्य विदेशी दम्पतियों से मुलाकात हुई। यहाँ के लोगों का जीवन बड़ा ही व्यस्त होता है, अतः कुछ क्षणों के लिये इस व्यस्तता से दूर भागने के लिये अक्सर ऐसे कार्यक्रम बनाये जाते हैं। हमारे इस एसोसियेशन की मीटिंग प्रायः हर दूसरे सप्ताह में बुधवार को सात बजे रात्रि में यूनिवर्सिटी में हुआ करती थी। वहाँ प्रीनैटल, सिलाई, गृहकार्य, खेल आदि के लिये अलग अलग समितियाँ थीं जो कार्यक्रम आयोजित करती थीं। गृहिणियों को आवश्यक सभी प्रकार की पत्रिकायें वहाँ उपलब्ध होती हैं। मनोरंजन के साथ ज्ञान प्राप्ति भी हो जाती है।

१५ सितम्बर को हमें वाय० एम० सी० ए० की ओर से पतझड़ का दृश्य देखने का निमन्त्रण था। 'फाल' में यहाँ का दृश्य वर्ष में सुन्दरतम होता है। सदाबहार वृक्षों को छोड़ सारे वृक्षों के पत्ते रंग बदलते हैं। पत्ते लाल, सिन्दूरी, नारंगी और पीले रंग के हो जाते हैं। जंगल पुष्प वाटिका-सा प्रतीत होता है। विदेशी, और विशेषकर

उष्ण कटिबन्धीय देशों से आये, लोगों के लिये यह दृश्य अनुपम होता है। हम सभी विदेशी छात्र तथा परिवार वहाँ जाने के लिये आमन्त्रित थे। दस - बारह कारों में हम वहाँ के लिये रवाना हुए। कुल मिलाकर करीब ६० मील का 'ड्राइव' था। पहाड़ों और जंगलों से होते हुए हम जा रहे थे। जगह जगह आलू के खेत और सेब के बगीचे दिखाई पड़ रहे थे। पहाड़ों की ढालों से रंगीन छटा बड़ी ही मनमोहक लग रही थी। ४० मील चल चुकने के बाद हम एक सेब के बगीचे में रुके। वह बगीचा काफी विशाल था। प्रायः सभी वृक्ष सेब से लदे थे, जिनमें विभिन्न प्रकार के सेब थे। वहाँ से विदेशों को भी सेब 'कोल्ड-स्टोरेज' में भरकर भेजा जाता है। वहाँ से ८ मील चलकर हम एक आलू के खेत में पहुँचे। कई एकड़ जमीन को एक साथ जोतकर आलू बोया गया था। उस खेत के स्वामी ने एक छोटा सा भाषण भी दिया कि वे किस प्रकार आलू की खेती करते हैं तथा कहाँ कहाँ निर्यात करते हैं। आलू कैनेडा के इस (न्यू ब्रून्सविक) प्रान्त की एक मुख्य उपज है। यहाँ से दक्षिण अमेरिका और यूरोप के कई देशों को आलू भेजा जाता है। भ्रमण से लौटने पर वाय० एम० सी० ए० के भवन में 'डिनर' दिया गया।

अक्टूबर माह के शुरू में पत्ते गिरने लगे। देखते ही देखते १५ - २० दिन के भीतर सारे वृक्ष (सदाबहार वृक्षों को छोड़कर) ठूँठ हो गये। यत्र- तत्र पृथ्वी पर रंगीन पत्तों के ढेर ही ढेर दिखाई पड़ने लगे। प्रकृति बड़ी उदासीन

दिखने लगी। दिनोंदिन ठंड बढ़ती जा रही थी। अक्टूबर के अन्तिम शनिवार की अर्धरात्रि को समय में परिवर्त्तन कर दिया जाता है। घड़ी का काँटा एक घण्टा पीछे कर दिया गया। अक्टूबर माह से दिन छोटा होने लगता है, अतः लोग प्रातः उजाले में काम पर जा सकें इसलिये समय में यह परिवर्तन किया जाता है, किन्तु कई लोग इसे पसन्द नहीं करते। उनका कहना है कि घड़ी को पीछे न करके काम का समय बदलना चाहिये। अप्रैल के अन्तिम शनिवार को घड़ी का काँटा पुनः बढ़ा दिया जाता है ताकि लोगों को गर्मी के दिनों में काम से लौटने के बाद शाम को अधिक से अधिक समय तक उजाला मिल सके।

नवम्बर के प्रथम सप्ताह में यहां 'हैलोविन' का त्योहार मनाया जाता है। उन दिनों यहां बाजारों में कागज और प्लास्टिक के चेहरे मिलते हैं जिन्हें लगानार लोग विचित्र वेशभूषा पहन लेते हैं ताकि पहिचाने न जा सकें और प्रत्येक घर जाते हैं। वहां उन्हें कैण्डी, कुकी और मूँगफली दी जाती है। इस त्योहार का उद्गम इंगलैंड और आयरलैंड में ईसा से पूर्व हुआ था।

इंडिया एसोसियेशन की ओर से दीपावली के उपलक्ष में कुछ सांस्कृतिक कार्यक्रम रखे गये थे। बहुत से दर्शकगण आये। हमने भारत के नक्शे के चारों ओर दीप जलाया। भारत के विभिन्न प्रान्तों की वेशभूषा का प्रदर्शन कैनेडियन लड़के और लड़कियों को पहिना कर किया गया। भारतीय पोशाक में कैनेडियन लड़कियाँ बड़ी ही सुन्दर लग रही

थीं। इसी तरह के कुछ अन्य भी मनोरंजक कार्यक्रम थे। कार्यक्रम के अन्त में 'गेट-टुगेदर' एवं स्वल्पाहार का आयोजन था।

दिसम्बर माह का आरम्भ हुआ। कड़ाके की ठण्ड पड़ने लगी। ८ दिसम्बर को प्रातः उठकर जब मैंने खिड़की से बर्फ की सफेदी देखी तो सहसा विश्वास नहीं हुआ। वृक्षों, छतों और बिजली के तारों पर पड़ी हुई बर्फ बड़ी भली लग रही थी। उस समय भी कपास के फूहों सरीखी बर्फ गिर रही थी। उसी दिन जीवन में मैंने पहली बार बर्फ-वर्षा देखी। अभिनव दृश्य होने के कारण वह मेरे और मेरे बच्चों के लिये अत्यन्त आल्हादकारी था। आभा, विभा बाहर जाकर बहुत सी बर्फ उठाकर ले आईं। लगातार कई घण्टों तक बर्फ-वर्षा होती रही। घर से निकलकर स्नोसूट पहने हुए बच्चे बर्फ में खेलने लगे। कभी वे स्नो का गोला बनाकर एक दूसरे पर फेकते तो कभी जानवर की आकृति बनाते।

लगभग चार माह तक यह वातावरण रहा। अक्सर बर्फ-वर्षा होती रहती और बर्फ इकट्ठी होती जाती। बर्फ-वर्षा के बाद सड़कों पर की बर्फ 'प्लो' द्वारा हटा दी जाती है। इस तरह सड़कों के दोनों किनारों पर प्लो द्वारा हटायी गयी बर्फ की दीवालें बन जाती हैं। शहर की मुख्य सड़कों पर जमी हुई बर्फ को ट्रक में भरकर शहर के बाहर फेंका जाता है। बर्फ की चिकनाई दूर करने के लिये और उसे शीघ्र पिघला देने के लिये, प्लो चलाने

के बाद उस पर नमक और रेत छिड़की जाती है। स्नो पर चलते रहने के कारण दबाव से वह 'आइस' बन जाता है। आइस पर चलना हमारे लिये आसान काम नहीं। यदि जरा भी असावधानी हुई तो आप चारों खाने चित्त उस पर गिरेंगे। किन्तु यहाँ के लोगों के लिये आइस पर चलना उतना कठिन नहीं। इसका कारण यह है कि उन्हें बचपन से ही स्केटिंग का अभ्यास होता है। चूँकि यहाँ शरद ऋतु तक बर्फ को पिघलने का मौका नहीं मिलता अतः लोग मैदान पर कहीं भी पानी छिड़ककर वहाँ के स्नो को आइस के चिकने मैदान में परिवर्तित कर लेते हैं और इस तरह स्केटिंग रिन्क तैयार हो जाता है। नदी और झील के जमे पानी पर भी स्केटिंग किया जाता है। स्केटिंग करने के जूते, जिसे 'स्केट्स' कहते हैं, विशेष प्रकार के बने होते हैं। उनके तलों में लोहे के धार-दार ब्लेड लगे होते हैं जिससे बर्फ में बिना पैर उठाये फिसलते हुए तेजी से चल सकते हैं। आजकल शहरों में विशेष भवनों के भीतर 'रिन्क' होते हैं जहाँ स्केटिंग तथा आइस हॉकी खेलने की सुविधा होती है। टेलीविज़न में हमने 'फिगर स्केटिंग' का प्रोग्राम देखा जिसमें लड़कियाँ आइस पर फिसलती हुई नृत्य कर रही थीं।

जबकि स्केटिंग आइस पर किया जाता है, स्कीइंग स्नो पर करते हैं। इसके लिये विशेष रूप से तैयार की गई लकड़ी की दो पट्टियाँ होती हैं। उन्हें जूतों की तरह पहन कर दो छड़ियों की सहायता से पहाड़ों की ढालों पर आगे

फिसलते हैं। वृक्षहीन पहाड़ की ढाल इसके लिये सर्वोत्तम स्थान होता है।

पहाड़ों की ढाल या ऐसे भी ढालू जमीन पर बच्चे 'टोवेगन' (बिना चके की गाड़ी) में बैठकर बड़ी तेजी से फिसलते हैं। हमारा घर पहाड़ी की ढाल पर था अतः हम लोग बच्चों का यह खेल प्रायः देखा करते। इस तरह यहाँ के लोगों ने बर्फ को संकट न मानकर मनोरंजन का साधन बना लिया है।

दिसम्बर के प्रथम सप्ताह से ही बाजारों में क्रिसमस के उपलक्ष में बड़ी सजावट तथा चहल-पहल होने लगी। क्रिसमस की छुट्टी करीब एक सप्ताह की हुई। जगह जगह से निमन्त्रण आये। बच्चों को बहुत सा उपहार मिला। लोग क्रिसमस-ट्री सजाने लगे। बच्चों को अभाव अनुभव न हो इसलिये हमने भी उनके मानसिक सन्तोष के लिये क्रिसमस-ट्री सजाया। हम अपने पड़ोसी परिवार के साथ यूनीवर्सिटी के पीछे के जंगल से क्रिसमस-ट्री लाने गये। क्रिसमस-ट्री सदाबहार वृक्ष की एक डगाल होती है। उसे रंगीन बल्ब और कागजों से सजाया जाता है। उसी ट्री के नीचे बच्चों के लिये हमने उपहार रख दिये। यूनीवर्सिटी में बच्चों के लायक बहुत से कार्यक्रम रखे गये। कार्यक्रम के अन्त में सांता क्लॉज़ ने उन्हें मिठाइयों और फलों से भरी हुई थैली उपहार में दी। बच्चे सांताक्लॉज़ से मिलकर फूले न समाये। सांताक्लॉज़ बच्चों को बड़ा आकर्षक लगता है क्योंकि उन्हें यह बताया जाता है कि वह उनको बहुत

प्यार करता है तथा उनके लिये उपहार लाता है। क्रिसमस के दूसरे दिन बाजारों में सांताक्लॉज का बैण्ड के साथ परेड निकलता है।

फरवरी में 'विन्टर कार्नीवाल' मनाया गया। यूनीवर्सिटी के प्रत्येक भवन के सामने बर्फ से विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ बनाई गईं। इंजीनियरिंग भवन के सामने सेन्टजॉन नदी पर एक प्रस्तावित बाँध का मॉडल बनाया गया। वनविभाग (फारेस्ट्री डिपार्टमेन्ट) के सामने रेंजर की मूर्ति थी। एक होस्टल के सामने ड्रैगन था। यूनीवर्सिटी के बीच में किला बनाया गया था। प्रत्येक डिपार्टमेन्ट से 'क्वीन' चुनी गई। ६ फरवरी की रात्रि में मशाल लिये हुए विद्यार्थियों का जुलूस गर्ल्स होस्टल से निकला जो पहाड़ी के नीचे बर्फ से बनाये गये किले के पास पहुँचा। इसे 'टार्च परेड' कहते हैं। जुलूस के आगे 'क्वीन्स' खुली कार में जा रही थीं। लेफ्टीनेन्ट गव्हर्नर ने किले के पास रानियों को मुकुट पहनाया। आतिशबाजियों और बैण्ड के साथ विन्टर कॉर्नीवाल का उद्घाटन लेफ्टीनेन्ट गव्हर्नर द्वारा हुआ। दूसरे दिन प्रातः एक फ्लोट परेड निकला जिसमें विभिन्न विभागों द्वारा सजाई गई झाकियाँ थीं।

८ मार्च को वाय० एम० सी० ए० में अन्तर्राष्ट्रीय भोज था जिसमें भारतीय, चोनी जापानी, वेस्टइंडीज़ आदि देशों के व्यंजन थे। भोज के अन्त में कुछ सांस्कृतिक कार्यक्रम रखे गये थे जिनमें भारतीय विवाह, कीनिया का लोक नृत्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय वेशभूषा का प्रदर्शन मुख्य थे।

अप्रैल के अन्त में ठण्ड कम होने लगी अतः बर्फ पिघलने लगी। बर्फ के पिघलने से सर्वत्र दलदल सा हो गया। ठण्ड कम हो जाने से तापमान सुखद लगने लगा। बर्फ की उकताहट दूर होने लगी।

मई माह से वृक्षों में कोपलें निकलने लगीं। पौधे फूटने लगे, घास उगने लगी। थोड़े ही दिनों में हरियाली छा गई। ऐसा लगने लगा मानों बर्फ की मरुभूमि हरितभूमि में परिवर्तित हो गई है। पेड़-पौधे फूलों और कलियों से लद गये। उस समय यहाँ की शोभा निराली ही रहती है। यहाँ का जीवन जिस तरह तीव्रगामी होता है उसी तरह यहाँ प्रकृति में परिवर्तन भी तेज है।

जून माह में गर्मी पड़ने लगी। इन दिनों लोग अक्सर छुट्टी बिताने सप्ताहांत में झील, नदी और पार्क के किनारे जाया करते हैं। अनेक भारतीय मित्रों के पास कारें थीं। अतः हमें भी वहाँ जाने का सुअवसर प्रायः मिलता था।

जुलाई माह में हम अपने एक मित्र परिवार श्री और श्रीमती एलड्रिज के साथ उनकी कार में प्राकृतिक दृश्य देखने शहर से ५० मील दूर गये। एक नदी के किनारे रुके। बहुत से लड़के-लड़कियाँ नदी में तैर रहे थे। नदी के तट पर जंगली फूल और स्ट्राबेरी के पौधे थे। बच्चों ने स्ट्राबेरी तोड़कर खाये और फूल इकट्ठा किया। श्री एलड्रिज ने एक साँप लाकर दिखाया। वे उसे अपने हाथ से पकड़े हुए थे। वह करीब एक फुट लम्बा था। श्री एलड्रिज ने बताया कि कैनेडा में ठण्ड के कारण विषैले साँप नहीं होते।

साँपों के केवल एक ही दो प्रकार हैं जिन्हें लोग यहाँ 'पेट' (पालतू) बनाकर भी रखते हैं। वहाँ से लौटते समय हम एक जंगल की सड़क में से होकर आये जहाँ अधिक ट्रैफिक नहीं थी। रास्ते में 'पोर्किन - पाइन' तथा सड़क के किनारे किनारे बैठे अनेक खरगोश देखे। यहाँ के खरगोश प्रकृति के साथ अपने रंग बदलते हैं।

ग्रीष्म ऋतु समाप्त होने लगी और पुनः पतझड़ आ गया। इस तरह दूसरा वर्ष - चक्र प्रारम्भ हो गया। इस पिछले एक वर्ष का जब मैं सिंहावलोकन करती हूँ तो ऐसा लगता है मानों मैं कुछ ही दिन पहले यहाँ आई थी। भारतीयों के सिवाय यहाँ देश - विदेश के लोगों से परिचय हुआ, घनिष्ठता बढ़ी और इतना अपनत्व हो गया कि ऐसा बिल्कुल नहीं लगता कि हम भारत से हजारों मील दूर विदेश में हैं। हमारे शहर में यदि कोई जापानी या आफ्रिकी व्यक्ति आ जाये तो उसे हम आश्चर्य से घूरकर देखते हैं पर यहाँ हम विभिन्न संस्थाओं में साथ साथ काम करके तथा विचारों का आदान - प्रदान करके यह पाते हैं कि संसार के हम सारे मानव एक समान हैं और एक ही पृथ्वी माता की संतान हैं।

ईश्वर सागभाजी या मछली की तरह नहीं है, जिसे मूल्य देकर खरीद लिया जाय।

— श्री माँ सारदा

नारी-शिक्षा और स्वामी विवेकानन्द

कुमारी अजिता चटर्जी

संसार में कभी कभी कुछ ऐसी घटनाएँ घट जाती हैं जिनसे इतिहास में एक नया मोड़ आ जाता है। हमारे देश में स्वामी विवेकानन्द का जन्म एक ऐसी ही घटना है। उन्होंने केवल धर्म का ही प्रचार नहीं किया था अपितु देश और समाज के लिए अभिनव व्यवस्थाओं का निर्माण भी किया था। आज नारीजाति में जो जागृति दिखाई दे रही है उसका अधिक श्रेय स्वामी विवेकानन्द को है।

स्वामीजी की प्रतिभा बहुमुखी थी। एक ओर तो वे एक श्रेष्ठ धर्मगुरु और उच्च दार्शनिक थे तथा दूसरी ओर वे एक कर्मठ समाज सेवक और जनत्राता भी थे। उन्होंने कहा था, "मैं ऐसे ईश्वर या धर्म पर विश्वास नहीं करता जो विधवा के आँसू नहीं पोंछ सकता और किसी अनाथ के मुँह में रोटी का टुकड़ा नहीं दे सकता। क्या सभी दरिद्र और दुर्बल व्यक्ति भगवान् नहीं हैं? पहले उन्हीं को पूजा क्यों नहीं की जाय।"

समाज के अशिक्षित एवं उत्पीड़ित वर्ग के प्रति उनके मन में अगाध सहानुभूति भरी हुई थी और इसीलिए उनका ध्यान उन्नीसवीं शताब्दी की शिक्षाविहीना और सामाजिक अधिकारों से हीन परित्यक्ता नारियों की ओर सबसे पहले गया था। नारी समाज की उन्नति के लिए

स्वामीजी ने जो प्रयत्न किए वे भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखे जाएँगे। स्वामीजी बार बार कहा करते थे कि "जो देश, जो राष्ट्र स्त्रियों का सम्मान नहीं करता वह न तो कभी महान् बन सका है और न वह भविष्य में बन सकेगा।"

नारी की प्रगति के उपाय जानने के लिए उन कारणों को जानना अनिवार्य है जिससे भारतीय नारी वैदिक युग के अपने उच्चासन से पतित हो गई। इसका मूलगत कारण था शिक्षा का अभाव। जिस क्षण से समाज के अधिष्ठाताओं ने स्त्रियों की शिक्षा का मार्ग अवरुद्ध कर दिया उसी क्षण से स्त्रियों की प्रगति के साथ ही देश के विकास-पथ पर भी अवरोध उत्पन्न हो गया। इसलिए स्त्रियों की प्रगति का केवल एक ही रास्ता है, और वह है स्त्री-शिक्षा का प्रसार। इस संदर्भ में स्वामीजी ने दृढ़ विश्वास के साथ कहा है, "स्त्रियों को वर्तमान अवस्था से तबतक नहीं उबारा जा सकता जब तक उनमें शिक्षा का प्रसार न हो।

ऐसे तो शिक्षा की अनेक परिभाषाएँ विद्वानों ने दी हैं किन्तु उन्होंने शिक्षा के व्यावहारिक स्वरूप पर ही विचार किया है। शिक्षा के आध्यात्मिक स्वरूप पर उनका दृष्टि नहीं गई है। स्वामीजी ने शिक्षा के इसी पक्ष का उद्घाटन किया। उन्होंने बताया कि "शिक्षा शक्ति का विकास है। वह केवल शब्दों और जानकारियों का संग्रह मात्र नहीं है। वह एक ऐसा प्रशिक्षण है जो व्यक्ति को

सही और क्षमतापूर्ण संकल्प करने की शक्ति प्रदान करता है।"

स्वामीजी मानते थे कि आध्यात्मिक दृष्टि से स्त्री और पुरुष में कोई अंतर नहीं होता। उनका कथन था, "स्मरण रहे, हमें स्त्री और पुरुष दोनों की आवश्यकता है। स्त्री और पुरुष की आत्मा में कोई भेद नहीं होता।" अतः स्वामीजी की इच्छा थी कि एक ऐसे मठ की भी स्थापना की जाय जो पूरी तरह से स्त्रियों के द्वारा परिचालित हो तथा जो नारियों में श्री माँ सारदा देवी के आदर्श का प्रसार करे। स्त्रियों के मठ की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था कि इस मठ में परोपकार में अपने जीवन का उत्सर्ग कर देने वाली ब्रह्मचारिणी महिलाएँ निवास करेंगी। ये ब्रह्मचारिणियाँ आध्यात्मिक ज्ञान के प्रसार-प्रचार में अग्रणी होंगी तथा सामान्य नारियों में आध्यात्मिकता का वितरण करेंगी। स्त्री-मठ के साथ ही स्वामीजी की एक बालिका-विद्यालय की स्थापना की इच्छा भी थी जिसमें बालिकाओं को शास्त्र, साहित्य, संस्कृत एवं अंग्रेजी की शिक्षा देने के साथ ही गृहकार्यों की भी शिक्षा दी जाय। स्वामीजी चाहते थे कि इन बालिकाओं के निवास की व्यवस्था मठ में ही की जाय। ब्रह्मचारिणी जन इन्हें ब्रह्मचर्य की शिक्षा दें। इसप्रकार चार-पाँच वर्षों तक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् यदि विद्यार्थियों की इच्छा हो तो वे ब्रह्मचर्यव्रत का अवलम्बन करते हुए मठ में स्थायी रूप से निवास करें। ये सभी ब्रह्मचारिणियाँ भविष्य में

मठ की अध्यापिका और धर्मप्रचारिका बनेंगी। शहरों और ग्रामों में शिक्षाकेन्द्र की स्थापना कर वे सामान्य स्त्रियों को शिक्षा प्रदान करेंगी। स्वामीजी का विचार था कि इसप्रकार की आदर्शचरित्रा ब्रह्मचारिणियों के माध्यम से ही देश में स्त्री-शिक्षा का प्रसार हो सकेगा। मठ की छात्राओं का मूलमंत्र होगा—'आध्यात्मिकता, आत्मोत्सर्ग और आत्मसंयम।' उनका प्रधान व्रत होगा - सेवाधर्म। स्वामीजी की कल्पना थी कि जब स्त्रियों का स्वभाव इस प्रकार से गठित किया जाएगा तभी सीता और सावित्री जैसी आदर्शचरित्रा नारियों का आविर्भाव फिर से सम्भव हो सकेगा।

खेद की बात है कि स्वामीजी के जीवन-काल में उनकी यह महान् अभिलाषा साकार नहीं हो सकी। किंतु उनकी यह बलवती इच्छा कालान्तर में स्त्रियों के मठ की स्थापना के रूप में फलवती हुई। स्वामीजी के हृदय में नारीजाति के प्रति असीम श्रद्धा थी। वे प्रत्येक स्त्री को जगन्माता के प्रतीक के रूप में देखते थे। और, इसीलिए, उन्होंने दृढ़ता पूर्वक यह घोषणा की थी कि "परिवार की इन सब देवियों की उपासना के लिए, और उनके अंतर के ब्रह्म को प्रकाशित करने के लिए मैं एक स्त्री मठ की स्थापना अवश्य करूँगा।"

स्वामीजी यह जानते थे कि धर्म ही भारत का प्राणकेन्द्र है। यदि उसका धर्म नष्ट हो गया तो भारत की रक्षा कोई भी शक्ति नहीं कर सकती। भारतीय नारियों को अपना अमृतमय आशीर्वाद देते हुए उन्होंने कहा था,

"भारत में और भारतीय धर्म में श्रद्धा एवं विश्वास करो ! तेजस्विनी बनो ! भारत में जन्मग्रहण कर स्वयं को धन्य समझो। सदैव याद रखो कि यद्यपि हमें अन्य जातियों से बहुत कुछ लेना है किंतु हमें उन सबको संसार के अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कुछ देना भी है।" संशय और अविश्वास के इस युग में स्वामीजी के उपदेशों का पालन करने से स्त्रीजाति महान् बन सकती है और उनके द्वारा प्रतिपादित स्त्री-शिक्षा का स्वरूप आधुनिक भारत की नारियों के नवजागरण का एक सशक्त माध्यम बन सकता है।

यदि कोई दुर्बल मनुष्य तुम्हारा अपमान करे तो उसे क्षमा कर दो, क्योंकि क्षमा करना ही वीरों का काम है; परन्तु यदि अपमान करने वाला बलवान् हो तो उसे अवश्य ही दण्ड दो।

— गुरु गोविन्द सिंह

महामहोपाध्याय स्व० पं० जोगेन्द्रनाथ

(तर्क, सांख्य, वेदान्ततीर्थ, डी० लिट्०)

डा० त्रेतानाथ तिवारी

श्री जोगेन्द्रनाथ जी आधुनिक बंगाल के श्रेष्ठतम विद्वानों में से एक थे। उनके जीवन में ऋषितुल्य आचार्यत्व का आदर्श साकार हो उठा था। यद्यपि वे श्रीकृष्ण के परमभक्त और वैष्णवशिरोमणि थे किंतु उन्होंने अपने धार्मिक विश्वास को यत्नपूर्वक गोपनीय बना रखा था। उन्होंने अपने पुत्र को भी इस बात के लिए सतर्क कर रखा था कि उनके जीवनकाल में कोई भी व्यक्ति उनके धार्मिक विश्वास को न जान सके। इतना ही नहीं अपितु वे वैष्णवों के सामने उनकी दिल्लगी उड़ाया करते थे तथा शक्ति और शैव मत की प्रशंसा कर दिया करते थे। यही कारण था कि जनसाधारण को उनके सच्चे रूप का ज्ञान न हो सका।

वे आचार्यशिरोमणि थे। जो भी व्यक्ति उनके पास शिक्षा प्राप्त करने जाता उसे वे अत्यन्त आत्मीयतापूर्वक अपने समीप बैठा लेते थे। उनके घनिष्ठ एवं स्नेह पूर्ण व्यवहार से लोगों का संकोच शीघ्र ही दूर हो जाता था। आसन और बिस्तर के नाम पर वे केवल एक दरी और एक चादर रखा करते। उसी दरी पर बैठकर वे पठन-पाठन, अध्ययन, जप, ध्यान और कीर्तन किया करते। इसप्रकार उनका यह आसन ही एक तीर्थ बन गया था। वे किसी व्यक्ति की

पद-प्रतिष्ठा अथवा जाति-पाँति की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते थे, अपितु वे सभी से समान रूप से स्नेह रखते थे। वे किसी से भी मिलने के लिए तैयार रहते थे। उनके पास न तो कोई अतिथियों के ठहराने का कमरा था और न कोई दीवानखाना ही। उनसे मिलने के लिए कोई परिचय-पत्र बताने की आवश्यकता भी नहीं होती थी। सत्य की खोज, उच्चतम ज्ञान की अनवरत पिपासा और उसकी अभिव्यक्ति तथा मानव-मात्र के प्रति सच्चा प्रेम—ये जो भारतीय गुरुओं के आदर्श गुण हैं, वे महामहोपाध्याय जी में पूरी मात्रा में विद्यमान थे।

वे विद्यार्थियों को शिक्षा देते कभी नहीं थकते थे, विद्यार्थी भले ही थक जाय। कभी कभी तो मध्यरात्रि तक अध्यापन करते रहते। उनकी अध्यापन कुशलता ऐसी थी कि वे थोड़े ही समय में अपनी अपार ज्ञान-राशि एवं गम्भीर विद्वत्ता के द्वारा अनेकानेक प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रंथों से और दैनंदिन जीवन के उदाहरण दे-देकर विषय को हस्तामलकवत् स्पष्ट कर देते थे।

यद्यपि उनपर कैन्सर ने आक्रमण कर दिया था तथा उन्हें भोजन निगलने में बड़ी पीड़ा होती थी, किन्तु यदि कोई विद्यार्थी उनके पास आ जाता तो वे उसे पढ़ाने का अवसर नहीं चूकते थे। वे कहा करते, "दिन खाली नहीं जाना चाहिए, थोड़ा सा अवश्य पढ़ लेना चाहिए।" वे हमेशा कहते, "पढ़ो, रोज पढ़ो, दिन में दो बार पढ़ो और कम से कम एक पृष्ठ अवश्य लिखो।" वे अपने विद्यार्थियों

से आंतरिक स्नेह करते थे, अतः उनकी एक दिन की भी अनुपस्थिति वे नहीं सह सकते थे। उनके एक शिष्य एम. ए. की कक्षा पढ़ाते थे। एक दिन उन्होंने महामहोपाध्याय जी से पूछा, "मेरे लिए आदर्श बताइए।" उन्होंने कहा–" रोज अध्ययन करो। भले ही तुम्हें अपना विषय ज्ञात हो किंतु अनेक ग्रन्थों को पढ़कर अपना पाठ तैयार करो। विद्यार्थियों में अपने विषय के प्रति रुचि उत्पन्न करो। तुम अपना इसप्रकार का आदर्श बनाओ ताकि तुम्हारे पास आने वाला प्रत्येक चिंतित और उदास विद्यार्थी प्रसन्न, निश्चिंत एवं संतुष्ट होकर लौटे। कल्पना से कभी कोई बात न कहो। सदैव साधार उत्तर दो। यदि तुम्हें किसी विषय में संदेह हो तो अपनी त्रुटि तुरन्त स्वीकार करो और बाद में अध्ययन करके उसे पुनः समझाओ। यदि तुम कोई बात गलत कह जाओ और तुम्हें बाद में अपनी गलती मालूम हो तो उसकी चर्चा निकालकर अपनी गलती बताते हुए उसे पुनः स्पष्ट करो। ताश, पासे, शतरंज आदि में अपना तनिक भी समय नष्ट न करो। समय मिलने पर अध्ययन और पठन करते रहो। विद्यार्थियों के समक्ष तुम आदर्श बनकर रहो ताकि तुम्हें देखकर वे यह जान सकें कि निष्ठावान् एवं उत्तरदायित्वपूर्ण शिक्षक का आदर्श कैसा होना है। जीवन भर तुम सदैव यही प्रयत्न करते रहो कि तुम्हारे विद्यार्थी भी आदर्श शिक्षक बनें और यह परम्परा चलती रहे। किसी प्रोफेसर की कीर्ति का मानदण्ड यह है कि उसने कितने विद्वान् अध्यापक निर्मित किए हैं।"

उन्हें महामहोपाध्याय और डी. लिट. की उपाधियाँ आदरार्थ प्राप्त हुई थीं। कुछ समय तक उन्होंने गुरुकुल में शिक्षक का कार्य किया था तथा वहीं उन्होंने हिन्दी भाषा में प्रवीणता प्राप्त की थी। वे बंगला एवं संस्कृत के धुरंधर पंडित थे। संस्कृत विद्या की प्रत्येक शाखा में उनका अद्वितीय प्रवेश था। उनकी स्मरणशक्ति अद्भुत थी। वे किसी भी विषय पर तत्काल गम्भीर विचार प्रस्तुत करके लोगों को चकित कर देते थे। बंगाल के अनेक विद्वान् प्रोफेसर उनके शिष्य रह चुके हैं।

शिक्षा देने में उनको सात्त्विक आनन्द प्राप्त होता था। जब कभी विद्यार्थियों को महाविद्यालय में तृप्ति नहीं हो पाती तो वे उन्हें निस्संकोच अपने घर बुला लिया करते और चार - चार, छः-छः घण्टों का समय देकर उनकी कठिनाइयाँ सुलझा दिया करते थे।

उनके आसन या बिस्तर के चारों ओर ग्रन्थों का ढेर लगा रहता था। यही उनका बिस्तर, आसन और अध्ययन-कक्ष था। वही अंत में उनकी मृत्यु शय्या भी बनी। उनके कमरे की सादगी उनके जीवन की सादगी को ही प्रकट करती थी। सांसारिक सुख या आराम की उन्हें तनिक भी परवाह नहीं थी। वे सदैव अध्ययन, अध्यापन एवं चिंतन में लीन रहते थे। उनका हृदय स्नेह और भक्ति से परिपूर्ण रहता था। महाराज सीतारामदास के संसर्ग में आने पर उनका यह गुण विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ था। वे उन्हें साक्षात् परमात्मा का अवतार मानते थे। सीताराम-

दास महाराज उनका गुरुतुल्य सम्मान करते थे और उनकी चरण-धूलि अपने सिर पर धारण कर जगत् के समक्ष गुरु-पूजा का उत्तम आदर्श रखते थे।

उनकी लेखनी में आश्चर्यजनक शक्ति थी। तर्क और भावना दोनां पर उनका अद्वितीय अधिकार था। जो उनसे एक बार भी वार्तालाप कर लेता, वह कभी भी उनके व्यक्तित्व को नहीं भूल सकता था। उनकी विनम्रता एवं शील को देखकर ऐसा जान पड़ता था कि विद्वत्ता एवं प्रतिभा का उनपर उल्टा प्रभाव नहीं पड़ा है। प्राचीन विषयों में पारंगत होते हुए भी उनका दृष्टिकोण अनाधुनिक नहीं था।

उनका जीवन अत्यंत सरल था। यद्यपि वे ससार में रहते थे किंतु उनमें सांसारिकता का प्रवेश नहीं हो सका था। कैन्सर हो जाने पर उन्हें अस्पताल में भरती कर दिया गया। महाराज सीतारामदास अपनी अनेक छोटी-छोटी यात्राओं के बीच से समय निकालकर सदैव उनके समीप आते रहते। उन्होंने महाराज से प्रार्थना की थी कि "मेरा यह रोग दूर कर दीजिए।" उनकी कृपा से इंजेक्शनों के द्वारा उन्हें आश्चर्यजनक एवं आशातीत लाभ हुआ। वे रोग और पीड़ा से पूर्णतया मुक्त हो गये और उनके जीवन के अंतिम कुछ महीने शांतिपूर्वक बीते। उनका देहावसान भी वेदनारहित और शांतिपूर्वक हुआ। अंत तक वे पूर्णतया सचेत रहे। उन्होंने अपने शरीरत्याग की सूचना पहले से ही दे रखी थी।

प्रश्न — गीता में फल की चाह न करते हुए कर्म करने की बात लिखी है। क्या यह सम्भव है? गीता के इस निष्काम कर्म रूपी सिद्धान्त का हमारे दैनिक जीवन में क्या उपयोग हो सकता है?

— देवकुमार पंड्या, भोपाल।

उत्तर — निष्काम कर्म रूपी सिद्धान्त के दो पहलू हैं— (१) भौतिक और (२) आध्यात्मिक। भौतिक पहलू हमारे कर्मों को पूर्णता प्रदान करता है, उन्हें अधिक से अधिक फलप्रसू बनाता है। आध्यात्मिक पहलू कर्म में निहित स्वाभाविक विष से हमारी रक्षा करता है, हमें असफलता के समय टूटने से बचाता है और सफलता के उन्माद का मोचन करता है। ये दोनों पहलू एक दूसरे के पूरक हैं, अतः दोनों को मिलाकर ही निष्काम कर्म के सिद्धान्त

का सम्पूर्ण अर्थ प्राप्त होता है। हम अब इन पहलुओं पर अलग अलग विचार करें।

(१) भौतिक पक्ष — यह कहता है कि कर्म के फल को अतिरिक्त चाह न रखो। कर्मफल की चाह तो स्वाभाविक है। जब मनुष्य कोई कर्म करता है तो उसके फल की कामना से प्रेरित होकर ही करता है। पर गीता कहती है कि चाह की तीव्रता इतनी न कर लो जिससे कर्म करने की शक्ति में बाधा पड़े। उदाहरणार्थ, एक विद्यार्थी परीक्षा की तैयारी करता है। ज्योंही पुस्तक खोलकर वह पढ़ने बैठता है, उसकी आँखों के सामने परीक्षा-फल नाचने लगता है। सोचता है, यदि अमुक श्रेणी में उत्तीर्ण होऊँगा तो विदेश पढ़ने के लिए जाऊँगा। वह कल्पना के महल खड़ा करता रहता है और इस व्यर्थ की फल-चिन्ता में उसका अधिकांश समय नष्ट हो जाता है। यह समय अगर वह पढ़ाई में लगा देता, तो उसका कर्म अधिक सक्षम और पूर्ण बनता और उस कर्म का फल भी उसके लिए अधिक वांछित होता। यही बात प्रत्येक क्षेत्र में लागू होती है। हम कर्म करने में अधिक ध्यान न देते हुए उससे प्राप्त होने वाले फल के चिन्तन में समय व्यर्थ गँवाया करते हैं। अतः, निष्काम कर्म रूपी सिद्धान्त का भौतिक पक्ष कहता है कि पूरी शक्ति के साथ कर्म करते चलो। उसका उचित फल तो कर्म के न्याय के अनुसार अनिवार्य रूप से प्राप्त होगा ही। व्यर्थ के फल-चिन्तन में समय न गँवाओ। फल के बारे में सोचते रहने से मन भटक जाता है, हम अपना पूरा मन

कार्य में नहीं लगा पाते। इसीलिए वह फल की चाह करने से हमें रोकता है।

(२) आध्यात्मिक पक्ष — यह कहती है कि ईश्वरसमर्पित बुद्धि से जीवन के कर्म करो; अर्थात्, कर्म तो करो और पूरी शक्ति के साथ करो, पर उसका फल ईश्वर पर छोड़ दो। यह दृष्टिकोण हमारी रक्षा करता है। मान लीजिए, किसी ने पूरे मन-प्राण के साथ एक कर्म किया और अन्त में इतने प्रयत्न के बावजूद भी उसे असफलता हाथ लगी। जो व्यक्ति निष्काम कर्म का विश्वासी नहीं है उसकी क्या दशा होगी? वह टूट जायेगा, बिखर जायेगा। वह समाज को दोष देगा। वह हताश हो जायेगा और, सम्भव है, जीवन से भी निराश हो जाये। भौतिकवादी लोगों के जीवन में हम असफलता-जन्य यह निराशा बहुधा देखा करते हैं। एक बार असफल होने पर वे पुनः खड़े होने में समर्थ नहीं हो पाते। अब उनको देखें जो निष्काम कर्म के सिद्धान्त पर विश्वास करते हैं और अपने कर्मों के फल ईश्वर पर छोड़ देते हैं। यदि ऐसा व्यक्ति असफल होता है तो वह सोचता है कि ईश्वरेच्छा से ऐसा हुआ। वह संतोष कर लेता है कि इस असफलता से ईश्वर उसका मंगल ही करेंगे। और इस प्रकार, अपने आप को टूटने से बचाकर, वह ईश्वर में अधिक विश्वास के साथ, दुगुने उत्साह से कार्य में लग जाता है। जब उसे सफलता मिलती है, तो उसे भी वह ईश्वर की कृपा समझता है और अपने आपको एक नगण्य निमित्त मात्र मानता है। दोनों ही स्थितियों में कर्म का लेप

उस पर नहीं लग पाता। उसका समर्पण-भाव कर्म के विष से उसकी रक्षा करता है।

यहाँ कुछ लोग यह आपत्ति उठा सकते हैं कि यह तो पलायनवाद हुआ। ईश्वर को फल समर्पित करना तो मात्र एक कल्पना है। इसका उत्तर यह है कि आखिर जीवन भी तो एक कल्पना है। भौतिकवादी जितने कार्य करता है, वह सब भी तो महज कल्पना से उपजे होते हैं। यह विश्व ही तो मन का खेल है। मनुष्य का टूटना या बनना उसके मन के टूटने या बनने पर निभर करता है। अतः यदि कोई कल्पना हमें टूटने से बचाकर हमें बनाती है तो उसका सहारा हम क्यों न लें? अक्षांश और देशांतर की रेखाएँ कोई खिची हुई प्रकृति की रेखाएँ तो हैं नहीं। फिर भी उनके सहारे हम हवाई जहाज और पानी के जहाज से यात्रा करके गन्तव्य पर पहुँच जाते हैं। उसी प्रकार, इन भावों की भी उपयोगिता है। फिर, ईश्वर तो कल्पना की उपज है नहीं, वह जीवन का शाश्वत सत्य है, वह अखिल शक्ति का स्रोत है।

अतः आप निष्काम कर्म रूपी सिद्धान्त के इन दोनों पक्षों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें। आप देखेंगे कि उसका जीवन में आचरण करना सम्भव है और वही एक-मात्र ऐसा रास्ता है जो हमें आगे बढ़ने में सहायता प्रदान कर सकता है।

आश्रम समाचार

(१ दिसम्बर ६४ से २८ फरवरी ६५ तक)

रविवासरीय उपनिषद - प्रवचनमाला—आश्रम के सत्संग भवन में स्वामी आत्मानन्द ने ६, २० और २७ दिसम्बर को केनोपनिषद् पर प्रवचन दिया और इस प्रकार सात प्रवचनों में केनोपनिषद् की समाप्ति हुई। उसके उपरान्त स्वामीजी ने कठोपनिषद् पर चर्चा प्रारम्भ की। ३, १०, १७, ३१ जनवरी तथा ७, २८ फरवरी को इस प्रकार अब तक कठोप निषद् पर ६ प्रवचन हुए हैं।

इस बीच स्वामी आत्मानन्द के अन्य स्थानों पर भी सत्संग और व्याख्यान हुए। १ दिसम्बर को उन्होंने जगदलपुर में मैत्री संघ द्वारा आयोजित जनसभा को 'गीता का अमर सन्देश' विषय पर सम्बोधित किया। ११ दिसम्बर को ग्वालियर में रामकृष्ण आश्रम का शिलान्यास भारत के राष्ट्रपति महामहिम डा० राधाकृष्णन् द्वारा किया गया। वहाँ थाटीपुर कालोनी में आश्रम के लिए मध्यप्रदेश शासन ने उदारतापूर्वक लगभग ४ एकड़ भूमि दान में दी है। थाटीपुर कालोनी का नाम भी बदलकर रामकृष्ण नगर रखा गया है। १२ और १३ दिसम्बर को इसी सिलसिले में ग्वालियर स्थित आश्रम द्वारा आयोजित कार्यक्रमों में स्वामी आत्मानन्द ने भाग लेकर सार्वजनिक सभाओं को सम्बोधित किया। १५ दिसम्बर को आमंत्रित होकर स्वामीजी छिंदवाड़ा गये। वहाँ अपराह्न में महिला सत्संग मंडल द्वारा आयोजित महिलाओं की सभा में स्वामीजी ने नारियों के कर्तव्य पर प्रकाश डाला और सन्ध्या गीता सत्संग मंडल द्वारा

गीता जयन्ती के उपलक्ष में आयोजित विशाल जनसभा में उन्होंने गीता के सिद्धान्तों की युक्तियुक्त चर्चा की और यह बताया कि गीता के सिद्धान्त, कोरे सिद्धान्त नहीं हैं अपितु जीवन में वे उतारे जा सकते हैं। १६ दिसम्बर को मुलताई की जनसभा में; और १७ दिसम्बर को बैतूल की भारत-भारती एवं न्यू बैतूल उच्चतर माध्यमिक शाला में स्वामीजी के व्याख्यान हुए। उसी रात उन्होंने बैतूल के टाउनहाल में आयोजित जनसभा को भी सम्बोधित किया। १९ दिसम्बर को उन्होंने गोंदिया के एन० एम० डी० महाविद्यालय के स्नेह-सम्मेलन का उद्घाटन किया। २ जनवरी को स्वामीजी ने मुंगेली (बिलासपुर) के महाविद्यालय की योजनागोष्ठी का उद्-घाटन किया और ११ जनवरी को दुर्ग के शासकीय उपाधि महाविद्यालय द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह में प्रमुख अतिथि के रूप से भाग लिया। २२ जनवरी को जबलपुर में रामकृष्ण आश्रम का शिलान्यास मध्यप्रदेश के माननीय मुख्य मंत्री पं० द्वारकाप्रसाद जी मिश्र द्वारा किया गया। पं० मिश्र जी ने आश्रम के सेवा-कार्यों की सराहना करते हुए यह इच्छा व्यक्त की कि आश्रम की शाखाएँ हर जिले में खुलनी चाहिए। उन्होंने आश्रम के प्रति अपनी शुभकामनाएँ व्यक्त करते हुए अपनी विवेकाधीन निधि से वहीं पर आश्रम को १०००) के दान की घोषणा की। जबलपुर स्थित आश्रम की भूमि भी प्रान्तीय शासन द्वारा दानस्वरुप प्रदत्त हुई है।

२३ जनवरी को भोपाल में स्वामीजी के बड़े व्यस्त कार्यक्रम रहे। उन्होंने २॥ बजे दिन को हेवी इलेक्ट्रिकल्स की उच्चतर माध्य-मिक शाला को भेंट दी और वहाँ के छात्र-छात्राओं को समयानुकूल

सीख दो। उसके तुरन्त बाद, ३ बजे वे वर्ल्ड यूनियन द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह में मुख्य अतिथि के रूप से सम्मिलित हुए। इस समारोह की अध्यक्षता प्रान्त के माननीय राज्यपाल श्री ह० वि० पाटस्कर ने की। उसी सन्ध्या ७॥ बजे स्वामीजी ने विद्यार्थी-परिषद् द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती में भाग लिया। २४ जनवरी को भोपाल की गीता समिति द्वारा विवेकानन्द-जयन्ती के उपलक्ष में गीता भवन में रखे गये कार्यक्रम में आत्मानन्द जी ने बड़ी संख्या में उपस्थित श्रोताओं को सम्बोधित करते हुए कहा कि स्वामी विवेकानन्द ने अपना कोई अलग मत नहीं चलाया था; अपने गुरुदेव भगवान् श्रीरामकृष्ण की ही इच्छा को उन्होंने मूर्त रूप देने का प्रयास किया था।

४ फरवरी को भाटापारा (रायपुर) में शासकीय उच्चतर माध्यमिक शाला द्वारा आयोजित पालक-दिवस के उपलक्ष में स्वामीजी ने पालक, शिक्षक और विद्यार्थी के कर्तव्यों का सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत किया और प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों का हवाला देते हुए सन्बन्धित कतिपय समस्याओं के हल प्रस्तुत किये। ८ फरवरी को उनकी अध्यक्षता में रविशंकर विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० बाबूरामजी सक्सेना द्वारा मुंगेली (बिलासपुर) के ओसवाल-भवन का उद्घाटन किया गया। इस अवसर पर स्वामीजी ने जैन धर्म के सिद्धान्तों पर सारगर्भित चर्चा की। उसी दिन अपराह्न में स्वामीजी की अध्यक्षता में महिलाओं की एक सभा हुई जिसमें आश्रम के व्यवस्थापक श्री सन्तोष कुमार झा ने महिलाओं के कर्तव्य पर प्रेरक भाषण दिया। इस अवसर, पर मुंगेली निवासी सेठ कँवरलाल जी बैद ने स्वामीजी को आश्रम में एक कक्ष

निर्माण के लिए २५००) की थैली भी भेंट की। १६ फरवरी को अपराह्न में बिल्हा (बिलासपुर) के शासकीय उ० मा० शाला में स्थानीय नागरिकों एवं बालक-बालिकाओं को तथा उसी सन्ध्या वहाँ की जनसभा को स्वामीजी ने सम्बोधित किया। १८ फरवरी को अपराह्न में स्वामीजी ने खण्डवा में विवेकानन्द प्रतिष्ठान के तत्त्वावधान में आयोजित गोष्ठी की अध्यक्षता की तथा उसी रात्रि विवेकानन्द-जयन्ती के उपलक्ष में आयोजित उत्सुक जनसभा को 'स्वामी विवेकानन्द एवं भारतीय नवजागरण' विषय पर सम्बोधित किया।

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में उपनिषद्-प्रवचनमाला के अतिरिक्त निम्नोक्त कार्यक्रम भी इस अवधि में आयोजित हुए। १३ दिसम्बर को गीता-जयन्ती मनायी गयी जिसकी अध्यक्षता डा० बाबूरामजी सक्सेना ने की। प्राध्यापक रणवीरसिंह शास्त्री एवं प्राध्यापक बालचन्द्र कछवाहा ने इस अवसर पर गीता पर अपने सुलझे हुए विचार व्यक्त किये। आश्रम को रामकृष्ण मिशन के वयोवृद्ध विद्वान् संन्यासी स्वामी विमलानन्दजी महाराज के सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने २२ और २३ दिसम्बर को आश्रम के सत्संग भवन में अँगरेजी में उद्‌बोधक प्रवचन दिये। २४ दिसम्बर को ख्राइस्ट जयन्ती मनायी गयी, जब स्वामी विमलानन्दजी की अध्यक्षता में श्री रामेश्वर नन्द ने बाइबिल-पाठ किया और ईसा के जीवन पर विचार व्यक्त किये। स्वामी आत्मानन्दने भी इस अवसर पर ईसा के उपदेशों पर चर्चा की। २५ दिसम्बर को श्रीमती प्रकाशवती मिश्र की अध्यक्षता में श्री माँ सारदा देवी की ११२ वीं जयन्ती मनायी गयी। इस अवसर पर स्वामी विमलानन्द जी, प्रा० शकुन्तला घाटगे तथा स्वामी आत्मानन्द ने श्री माँ के जीवन और उपदेशों पर

प्रेरक व्याख्यान दिये। ५ जनवरी को ऋषीकेश से आये हुए स्वामी परमानन्द जी का प्रवचन हुआ। २४ जनवरी को श्री प्रेमचंद जैस द्वारा रामायण पर मनोहर एवं सरस प्रवचन किया गया। २६ जनवरी को शहीद दिवस के उपलक्ष में मध्यप्रदेश के वाणिज्य एवं उद्योग मंत्री, डा० शंकरदयाल शर्मा ने अत्यन्त उद्बोधक भाषण दिया। २१ फरवरी को पुनः श्री प्रेमचंद जैस एवं पार्टी द्वारा रामायण पर आकर्षक कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया।

विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह

११, १२, १३ और १४ फरवरी को स्वामी विवेकानन्द की १०३ री जयन्ती विशाल पैमाने पर मनायी गयी। इस चतुर्दिवसीय कार्यक्रम का उद्घाटन रविशंकर विश्वविद्यालय के माननीय उपकुलपति डा० बाबूराम जी सक्सेना ने किया। उन्होंने अपने उद्घाटन भाषण में कहा कि स्वामी विवेकानन्द ने हमारे राष्ट्र और समाज का मस्तक ऊँचा किया है। जब पश्चिम के लोगों द्वारा हम भारतीयों को जंगली, असभ्य, असंस्कृत, मूर्तिपूजक आदि दुर्वचनों से सम्बोधित किया जाता था, तब स्वामी विवेकानन्द ने उन देशों में स्थान-स्थान पर व्याख्यान और वक्तृताएँ देकर भारत एवं भारतीयों के विषय में व्याप्त गलत धारणाओं को बदल दिया।

इस अवसर पर स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-विषयक विचारों पर प्रकाश डालते युए विज्ञान महाविद्यालय के प्राचार्य डा० रविप्रकाश माथुर ने बताया कि स्वामी विवेकानन्द ने सौ वर्ष पूर्व शिक्षाप्रणाली की जिन त्रुटियों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए तत्कालीन शिक्षा को बाबुओं का उत्पादन बढ़ानेवाली निरूपित किया था, वे त्रुटियाँ आज भी विद्यमान हैं। स्वामीजी ने अच्छी शिक्षा को

राष्ट्रनिर्माण के शक्तिशाली साधनों में एक साधन के रूप में स्वीकार किया था। आदर्श शिक्षा के लिए उन्होंने आत्मविश्वास एवं श्रद्धा की महत्ता प्रतिपादित की थी।

आयुर्वेदिक महाविद्यालय के प्राचार्य डा० बनारसीदास गुप्त ने स्वामी विवेकानन्द के कार्यों के सांस्कृतिक पक्ष का उद्घाटन करते-हुए कहा कि वे देवदूत के समान निराशा के अंधकार को चीरते हुए अवतरित हुए थे। उन्होंने धर्म के सार्वभौमिक तत्वों का विश्लेषण करते हुए धार्मिक मतभेदों और पारम्परिक झगड़ों को व्यर्थ बताया तथा हिन्दू धर्म को सारे धर्मों की जननी के पद पर प्रतिष्ठित किया।

स्वामी विवेकानन्द के जीवन और संदेशकी सारगर्भित विवेचना करते हुए स्वामी आत्मानन्द ने कहा कि स्वामी विवेकानन्द एक ऐसे महा-मानव थे जिन्होंने आध्यात्मिकता और भौतिकता में समन्वय की स्थापना की थी। स्वामीजी ने राष्ट्रीय पुनरुत्थान के लिए अध्यात्म और भौतिक समृद्धि के तारतम्यमूलक विकास पर जोर दिया था। उन्होंने लोक सेवा को आध्यात्मिक साधना का सोपान बना दिया तथा कर्मठ संन्यास की प्रतिष्ठा की। स्वामी आत्मानन्द ने कहा कि युगाचार्य विवेकानन्द श्रीरामकृष्णदेव के सच्चे आध्यात्मिक शिष्य थे। डा० बाबूरामजी सक्सेना के समारोप भाषण के उपरान्त स्वामी विवेका-नन्द जी के दो प्रिय भजनों का गायन हुआ तथा राष्ट्रगान के पश्चात कार्यक्रम समाप्त हुआ।

१२ फरवरी, १९६५

कार्यक्रम के दूसरे दिन भगवान श्रीरामकृष्णदेव के जीवन और संदेश पर परिसंवाद का आयोजन किया गया था। शासकीय

संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य डा० श्रीनाथ हसूरकर ने श्रीराम-कृष्णदेव की साधना का विवेचन करते हुए कहा कि वे ईश्वर के अंशावतार थे तथा उनका अवतरण भारतवर्ष की प्राचीन काल से प्रज्वलित ज्ञानज्योति को अक्षत बनाने के लिए हुआ था। आधुनिक युग की वैचारिक दरिद्रता और क्षुद्रता का उल्लेख करते हुए डा० हसूरकर ने आशा प्रकट की कि भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के समान महापुरुष का अवतरण पुनः इस धरती पर लोगों को आत्मिक शक्ति प्रदान करने के लिए होगा।

श्रीरामकृष्णदेव के लोकोत्तर जीवन की मार्मिक विवेचना करते हुए श्रीमती प्रकाशवती मिश्र ने कहा कि भगवान् श्रीरामकृष्ण का जीवन अथाह सागर के समान है जिसमें भक्त, साधक, तपस्वी और गृहस्थ के उच्चतम आदर्शों की तरंगें विद्यमान हैं। उन्होंने बताया कि श्रीरामकृष्णदेव और उनकी लीला-सहचरी श्री माँ सारदादेवी का जीवन आध्यात्मिक संपूर्णता की कहानी है तथा उन्होंने जिस मानव धर्म का प्रचार किया है उसकी आज के समाज को बड़ी आवश्यकता है।

विज्ञान महाविद्यालय के प्राध्यापक नरेन्द्रदेव वर्मा ने श्रीराम-कृष्णदेव के युगप्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहा कि आधुनिक युग विरोधाभासों और संक्रांति का युग कहा गया है। आज के मानव का मन विज्ञान और धर्म, आस्था और तर्क के विरोधों के कारण क्षुब्ध हो उठा है। श्रीरामकृष्णदेव का अवतरण इसी विरोधाभास को समाप्त करने के लिए हुआ था। वे ईश्वरत्व के जीते जागते प्रतिनिधि थे तथा उन्हींके जीवन और संदेश के अवलम्ब से आधुनिक संक्रांति का सामना किया जा सकता है।

स्वामी आत्मानन्द ने अपने मार्मिक वक्तव्य में बताया कि श्रीरामकृष्णदेव ईश्वर के ऐश्वर्यहीन अवतार थे। अशिक्षित होते हुए भी उन्होंने शास्त्रनिबद्ध उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूतियों को उपलब्ध किया था। स्वामीजी ने कहा कि भगवान् श्रीरामकृष्णदेव समन्वयाचार्य थे। उन्होंने कथनी और करनी, साकार और निराकार, जगत् और ईश्वर तथा स्वतंत्र इच्छाशक्ति और नियति में आश्चर्यजनक ढंग से समन्वय साधित किया था। आत्मानन्द जी इस परिसंवाद की अध्यक्षता कर रहे थे। कुमारी शैलजा देशमुख के गायन के पश्चात् श्री संतोषकुमार झा ने आभार प्रदर्शन करते हुए कार्यक्रम की समाप्ति की घोषणा की।

१३ फरवरी १९६५

जयन्ती-समारोह के तीसरे दिन दस विद्वानों ने महाभारत के दस प्रमुख पात्रों पर अपना विचार प्रस्तुत किया। इस रोचक परिसंवाद के अध्यक्ष पद से महती जनसभा को सम्बोधित करते हुए बिलासपुर संभागीय निगरानी आयोग के आयुक्त डा० बलदेव प्रसाद जी मिश्र ने कहा कि महाभारत प्रत्यक्ष जीवन की गाथा है। जहाँ उसमें मानव की जटिलताओं का वर्णन है, वहीं दूसरी ओर मानव-प्रवृत्तियों के शाश्वत रूप का चित्रण भी हुआ है।

दुर्गा महाविद्यालय के दर्शनविभाग के अध्यक्ष श्री हरवंशलाल चौरसिया ने अर्जुन के चरित्र की विवेचना करते हुए बताया कि वे वीरता के प्रतीक थे तथा उनके अभाव में महाभारत प्रारम्भ ही नहीं किया जा सकता था। कर्ण की दानवीरता और पौरुष के पक्ष को स्पष्ट करते हुए रविशंकर विश्वविद्यालय के उपकुल सचिव श्री कृष्णकिशोर श्रीवास्तव ने कहा कि कर्ण आत्मविश्वास और उच्चतम

मानवीय गुणों से युक्त योद्धा थे जिसे नियति ने नष्ट कर दिया। माता कुंती को 'महाभारत की विद्युल्लता' के रूप में संबोधित करते हुए शासकीय महिला महाविद्यालय की प्राध्यापिका श्रीमती विद्या गोलवलकर ने कहा कि कुंती आदर्श पत्नी और वीरप्रसू माता के रूप में महाभारत में उपस्थित होती है। घासीदास स्मारक संग्रहालय के व्यवस्थापक डा० बालचंद्र जैन ने धृतराष्ट्र के चरित्र को प्रस्तुत करते हुए उसे सर्वथा लौकिक बताया। दुर्गा महाविद्यालय के प्राध्यापक श्री बालचंद्र कछवाहा ने दुर्योधन के चरित्र को वासना के प्रतीक के रूप में उपस्थित करते हुए कहा कि दुर्योधन को महाभारत का सबसे प्रमुख पात्र कहा जा सकता है, क्योंकि उसी के कारण भगवान् श्रीकृष्ण को जन्म लेना पड़ा था। प्राध्यापिका शकुंतला घाटगे ने द्रोपदी को महाभारत का केन्द्रीय चरित्र कहा जिसके अभाव में महाभारत अपूर्ण रह जाता। संस्कृत महाविद्यालय के प्राध्यापक डा० रामनिहाल शर्मा ने युधिष्ठिर के चरित्र की व्याख्या की। उन्होंने कहा युधिष्ठिर का अर्थ युद्ध में स्थिर रहना है। भीष्म के चरित्र पर राजकुमार कालेज के अध्यापक श्री सुधाकर गोलवलकर ने अपने विचार प्रस्तुत किए। दुःशासन को कुशासन के रूप में स्पष्ट करते हुए विज्ञान महाविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित ने विचारोत्तेजक व्याख्यान दिया। भगवान् श्रीकृष्ण के जन्म की पीठिका पर विचार करते हुए स्वामी आत्मानन्द ने कहा कि श्रीकृष्ण महाभारत की धुरी हैं। वे सूत्र-संचालक एवं प्रमुख नियामक के रूप में महाभारत में अवतरित होते हैं तथा युग की पारस्परिक द्वेष, ईर्ष्या और अलगाव की प्रवृत्तियों को महाभारत के द्वारा नष्ट करते हुए सद्धर्म की स्थापना करते हैं। अध्यक्ष महोदय के समापन

भाषण के उपरान्त कुमारी शैलजा देशमुख ने भजन प्रस्तुत किया तथा वंदेमातरम् के गायन के पश्चात् कार्यक्रम समाप्त हुआ।

१४ फरवरी, ६५

विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अंतिम दिन सर्वधर्म परिषद् का आयोजन किया गया था जिसम विश्व के समस्त प्रमुख धर्मों के प्रतिनिधियों ने विश्व को अपने अपने धर्म का संदेश दिया। विज्ञान महाविद्यालय के प्राध्यापक डा० देवेन्द्र कुमार जैन ने जैन धर्म के प्रमुख संदेश को सुनाते हुए बताया कि जैन धर्म अहिंसा, कर्मवाद तथा स्याद्वाद के आधारों पर स्थित है। स्थानीय नगर सुधार न्यास के अध्यक्ष श्री मुस्तवाँ खान ने इस्लाम धर्म के अन्तर्गत प्रार्थना के महत्त्व को व्यक्त करते हुए ईश्वर के प्रति समर्पण की भावना पर विशेष जोर दिया। दुर्गा महाविद्यालय के उपप्राचार्य श्री रणवीरसिंह शास्त्री ने बौद्ध धर्म के संदेश को मार्मिक वाणी में स्पष्ट करते हुए कहा कि बौद्ध धर्म विश्व को करुणा का पाठ पढ़ाते हुए मनुष्य की अन्तवर्ती शक्ति को जागृत करता है। श्री शास्त्री ने कहा कि अनात्मवाद मनुष्य के उद्दाम आत्मविश्वास का ही रूप है जो आत्मबल के समक्ष ईश्वर को नगण्य समझता है। पारसी धर्म का संदेश सुनाते हुए श्री एस० दारुवाला ने कहा कि पारसी धर्म के प्रतिष्ठापक जरथुस्त्र ने धर्मग्रन्थ में मानव के उच्चतर गुणों को महत्त्व देते हुए सत्यनिष्ठा, पवित्रता और सदागी का उपदेश दिया है। ईसाई धर्म के सम्बन्ध में वक्तव्य देते हुए रेवरेण्ड डैनियल फ्रांसिस ने विश्व की पथभ्रष्ट मानवजाति को ईश्वर के चरणों की ओर लौटने का संदेश दिया। उन्होंने प्रेम को ईसाई धर्म का आधार बताया और विश्वबंधुत्व पर जोर दिया।

विश्व के प्रति हिन्दू धर्म का संदेश प्रस्तुत करते हुए विवेकानन्द आश्रम के संचालक स्वामी आत्मानन्द ने ओजस्वी शब्दों में कहा कि हिन्दू धर्म 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का दिव्य संदेश देता है। वह धर्मान्धता और मतवाद की संकीर्णता में फँसे हुए व्यक्तियों को पारस्परिक विद्वेष त्यागकर स्वधर्म की साधना में लग जाने का उपदेश प्रदान करता है। हिन्दू धर्म की अतल व्यापकता पर विचार करते हुए उन्होंने कहा कि वह विश्व के सभी जनों को अपने हृदय में स्थान देता है। वह विभिन्नता को नष्ट किए बिना ही जीवन को समुन्नत बनाने की चेष्टा करता है।

रायपुर संभाग के निगरानी आयुक्त श्री घनश्यामसिंह गुप्त ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि धर्म पशुत्व का नाश करके मनुष्यत्व की स्थापना करता है। सभी धर्मों का एक ही उद्देश्य है। सभी धर्म ईश्वर तक पहुँचने के लिए विविध पथ हैं। अतः उनमें पारस्परिक संघर्ष नहीं होना चाहिए। विशाल जनसमूह मंत्रमुग्ध होकर सभी धर्मों के संदेश को सुनता रहा। श्री संतोषकुमार झा ने श्रीरामकृष्ण सेवा समिति के कार्यों की रिपोर्ट पढ़ते हुए श्रोताओं को धन्यवाद दिया। सामूहिक भजन तथा 'जनगणमन' के पश्चात् स्वामी विवेकानन्द जयन्ती का चतुर्दिवसीय कार्यक्रम समाप्त हुआ।

> नाव जल में रहे तो कुछ हर्ज नहीं, परन्तु नाव में जल नहीं रहना चाहिए। इसी प्रकार साधक चाहे संसार में रहे, पर साधक के मन में संसार नहीं रहना चाहिये।
>
> भगवान् श्रीरामकृष्ण

विस्थापित सहायता कार्य

रामकृष्ण मिशन

रायपुर के निकट स्थित माना और कुरुद शिविरों में पूर्वी पाकिस्तान से आये हुए विस्थापितों की सहायता के लिए रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ ने १५ मई १९६४ से जिस सराहनीय सेवाकार्य का प्रारम्भ किया था, उसकी सफल समाप्ति ३१ दिसम्बर १९६४ को हुई। इस अवधि में मिशन ने इस कार्य के लिए लगभग एक लाख अट्ठावन हजार रुपये व्यय किये। विस्थापितों के बीच जिन वस्तुओं का वितरण हुआ, वे निम्नलिखित हैं :—

विवरण		मात्रा या संख्या
(१)	बार्ली	५५४.५ किलो
(२)	मिल्क पाउडर	५०,८३६ पौंड
(३)	मल्टी परपज़ फुड	७६८ किलो
(४)	मल्टी विटामिन गोलियाँ	८०, ८५०
(५)	विटामिन (लिक्विड)	१,५१,७९५ मि.लि.
(६)	हार्लिक्स	१२० पौंड
(७)	शक्कर	६०० किलो
(८)	मुरमुरा	७२ बोरे

(९)	बिस्कुट, लॉजेन्स (विशेषतः अस्पताल के रोगियों और प्रसूताओं के लिए)	६७ किलो
(१०)	साड़ी (नई)	१०,७७६
(११)	धोती (नई)	४,३५०
(१२)	कम्बल (बड़े)	१०,१२०
(१३)	कम्बल (छोटे)	१,०००
(१४)	ऊनी कम्बल	५०
(१५)	बच्चों के रेडीमेड कपड़े	१२,४३१
(१६)	चादर	४१८
(१७)	ब्लाउज	१,०८०
(१८)	बनियाइन	१,८५८
(१९)	लालटेन	१,००२
(२०)	बाल्टी	५०४
(२१)	एलूमिनियम और पीतल के बर्तन	५५०
(२२)	इनेमल प्लेट	९४४
(२३)	धागे की रील	४,६०८
(२४)	सुई	१७,०००
(२५)	सिंदूर	६३ किलो
(२६)	सिंदूर दान	९,०७२
(२७)	पुस्तकें	१,८००

(२८)	कापियाँ	३२६
(२९)	स्लेट	४००
(३०)	स्लेट पेंसिल	३० दर्जन
(३१)	आर्थिक सहायता	५४९) ७४

इसके अतिरिक्त, १३,१०० पुराने वस्त्र भी विस्थापियों को वितरित किये गये तथा शिविरों के अस्पतालों को उपयोग के लिए ७५० प्रकार की विभिन्न एलोपैथिक दवाइयाँ भी दी गयीं।

महान् पुरुष जो उपकार करते हैं, उसका बदला नहीं चाहते। भला संसार जल बरसाने वाले बादलों का बदला किस प्रकार चुका सकता है।

— संत तिरुवल्लूवर

अन्यमनस्क भाव से घंटों ईश्वर का ध्यान और जप की अपेक्षा, अन्तः करण से एकाग्रता पूर्वक दोही मिनट की प्रार्थना और जप कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

— श्री माँ सारदा

मुद्रक—श्री विश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला काशी।